अच्छी हिन्दी

किशोरीदास वाजपेयी

मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ

अच्छी हिन्दी

किशोरीदास वाजपेयी की अन्य कृतियां

हिन्दी शब्द-मीमांसा

हिन्दी व्याकरण

अच्छी हिन्दी

किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज मेरठ

मूल्य : तीन रुपये मात्र

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज, मेरठ।

कोआपरेटिव प्रेस में मुद्रित।

निवेदन

देश स्वतन्त्र हो जाने पर उस ओर से एकदम छुट्टी मिली ; तब साहित्य मात्र की सेवा सामने रह गई । कुछ करना चाहिए, मन में आया । इसी समय भाषा-परिष्कार की चर्चा जोरों से उठी । प्रस्तुत पुस्तक की रचना उसी दृष्टि-कोण से की गई है ।

अपनी राष्ट्र-भाषा की सेवा में—उसकी अर्चना में—यह अभिनव पुष्प अर्पित करते क्षण मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ । मुझे विश्वास है, इस पुस्तक को भी राष्ट्र का वही स्नेह प्राप्त होगा, जो मेरी अन्य पुस्तकों को प्राप्त हुआ ।

पुस्तक पर मैं स्वयं क्या कहूँ ? आप क्या कहते हैं ; सुनने की इच्छा है ।

किशोरीदास वाजपेयी

निर्देशिका

पहला अध्याय

अच्छी रचना और अच्छी भाषा

अच्छी रचना के लिए अच्छी भाषा जरूरी है, जैसे अच्छा वस्त्र बनाने के लिए अच्छा सूत। किस या कैसी रचना के लिए कौन-सी या कैसी भाषा अच्छी रहेगी, यह देखना-सोचना साहित्यकार का अपना काम है। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है। उस प्रकृति से मेल खाने वाली रचना ही उसमें खिलेगी; अन्यथा काम भर चल जाएगा! हलवा बनाने के लिए हलवाई को सूजी चाहिए और लड्डू बनाने के लिए बढ़िया बेसन चाहिए। सेव आदि नमकीन चीजें बनाने के लिए जो बेसन काम में लाया जाता है, उस से लड्डू अच्छे न बनेंगे। इसके लिए बेसन और तरह का चाहिए। 'पृष्ठ' तथा 'पीठ' देखिए। 'पीठ में फोड़ा हो गया है' यहाँ 'पृष्ठ' देने से काम बिगड़ जाएगा—'पीठ' ही जमेगा। परन्तु 'इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर आप को अपने काम की चीज मिलेगी' यहाँ 'पृष्ठ' की जगह 'पीठ' कभी भी न जम सकेगा। 'पृष्ट-वंश' को 'पीठ का बाँस' कहना बेवकूफ बनना होगा। 'पृष्ठास्थि' को 'पीठ की हड्डी' भी कह सकते हैं। यह सब भाषा-विकास से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं, जिनका जानना साहित्यक के लिए जरूरी है। गेहूँ से आटा भी बना और मैदा भी बनी। परन्तु रोटी आटे की अच्छी रहेगी और खस्ता-कचौड़ी के लिए मैदा चाहिए। उलट-पुलट करने से चीज अच्छी न बनेगी। इसी तरह एक ही शब्द के विभिन्न रूपों का प्रयोग यथास्थान होता है—यथास्थान प्रयोग करने के लिए ही शब्दों के विविध रूप हो जाते हैं। संस्कृत की 'नी' धातु से 'नेत्र' बना और उसी से 'नयन' भी बना। अर्थ भी दोनों का एक—'आँख'। व्युत्पत्ति भी एक—जो (आगे) ले चले, वह 'नेत्र' और वही 'नयन'। 'नेता' भी इसी धातु से बना है। वह भी लोगों को अपने पीछे ले चलता है। परन्तु इसका प्रयोग 'आँख' के लिए नहीं, एक विशेष प्रकार की आँख रखने वाले प्राणवान् के लिए होता है।

इसी धातु से बना 'नायक' शब्द किञ्चित् भिन्न मार्ग पकड़ता है। और उन 'नेत्र' तथा 'नयन' शब्दों के भी प्रयोग में अन्तर है। 'नेत्र' में 'त्' के साथ 'र्' का संयोग कुछ कर्कशता पैदा कर देता है। 'नयन' में वह बात नहीं—इसमें मृदुता है। 'र्' का संयोग न होने से कर्कशता नहीं आ पाई और 'न' 'न' के मेल ने अधिक मधुरता पैदा कर दी है। 'न', 'म' तथा अनुस्वार, आदि चीनी तथा मिसरी का काम करते हैं। स्वयं मीठे और जहाँ जायँ, वहाँ मिठास। यही कारण है कि 'कनक-लतानि इन्दु, इन्दुन में अरबिन्द, झरैं अरबिन्दनि ते बुन्द मकरन्द के' ऐसे स्थल श्रवण-मधुर हो गए हैं। सो, 'नयन' जैसे कोमल शब्दों का प्रयोग वीरों के ज्वलन्त नेत्रों के लिए न होगा—वहाँ 'नेत्र' की कर्कशता ही फबेगी। 'शिवा जी के नयन' कभी न होगा। शेर या ऐसे ही किसी महाप्राण के लिए भी 'नयन' न दिया जाएगा। इसके विपरीत, प्रत्येक कोमल विषय 'नेत्र' की कर्कशता से दूर रहेगा। कामिनी को कभी भी 'मृगनेत्री' आपने न सुना होगा—'मृगनयनी' या 'मृगनैनी' जैसे मधुर शब्द ही ऐसे स्थलों में हिन्दी ने स्वीकार किए हैं। यह बात संस्कृत तथा हिन्दी में समान है।

२. हिन्दी में शब्दों का विकास भी इसी औचित्य को लेकर हुआ है। 'प्रिय' शब्द ले लीजिए, जिसका मधुर रूप 'पिय' हो गया है। ब्रजभाषा और अवधी आदि में तो 'पिय' चलता ही है, खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियों ने भी इसे अपना लिया है। इसी 'पिय' का दूसरा रूप 'पिया' है, जो खड़ी बोली में गृहीत नहीं हुआ है—ब्रजभाषा तथा अवधी में खूब चलता है। 'प्रिय' शब्द के दोनों रूप हैं—'पिय' भी और 'पिया' भी। 'पिया' को 'प्रिया' का रूप न समझ लीजिएगा। कभी भी किसी ने अपनी प्रेयसी को आज तक 'पिया' नहीं कहा है, न कह सकता है। 'काक' का विकास 'काग'—'काग के भाग बड़े सजनी, हरि-हाथ ते लै गयो माखन-रोटी'। इसी 'काग' में हिन्दी ने अपनी पुंविभक्ति लगा कर 'कागा' बना लिया, जैसे 'मीठ पानी' और 'मीठा पानी'। परन्तु 'काग' और 'कागा' खड़ी बोली में नहीं, ब्रजभाषा में ही अधिक चलते हैं—'कोयल काको देति है, कागा काको लेत'। मतलब यह कि जैसे 'काग' तथा 'कागा' ('काक' शब्द के) दो रूप हैं, उसी तरह 'प्रिय' के 'पिय' तथा 'पिया'। 'काग' में कोई वैसी मोहकता नहीं, इस लिए खड़ी बोली ने उसे नहीं लिया।

३. हम शब्द-विकास में औचित्य की चर्चा कर रहे थे। साहित्यकार तो उचित शब्दों का चयन तथा प्रयोग करता ही है; अच्छी भाषा में नैसर्गिक शब्द-विकास भी इसी ढंग से होता है—कम से कम हिन्दी में तो ऐसा ही हुआ है। स्त्री-मुख से 'प्रिय' की जगह 'पिय' या 'पिया' जैसे कोमल शब्द-रूप प्रकट होने में कितना औचित्य है, समझाने की जरूरत नहीं। परन्तु निसर्गपरुष पुरुष के मुहँ से 'प्रिया' को कभी भी 'पिया' न निकलेगा। हिन्दी ने अपने शब्द-विकास में कितना मनोवैज्ञानिक औचित्य रखा है! ब्रजभाषा तथा अवधी में भी पुरुष के मुहँ से 'प्रिया' ही निकलेगा—'प्रानप्रिया के सँग होरी' और 'प्रिया-हीन डरपत मन मोरा'। किसी दूसरी भाषा में ऐसा शब्द-विकास न मिलेगा।

४. तो, जिस भाषा ने अपने गठन में ही विविधता का ध्यान रखा है, विविध स्थलों को ध्यान में रख कर, उसमें रचना करने वाले लोग यदि थोड़ी भी सावधानी रखें, तो उनकी चीज बहुत बढ़िया बन जायगी। बढ़िया घी और बढ़िया बेसन—मैदा हो, तो कम कारीगरी से भी काम चल जायगा। हाँ, इतना ध्यान तो रखना ही होगा कि लड्डुओं के लिए मैदे की 'बूँदी' न झार ली जाएँ और सेव मैदे के न बना दिए जाएँ।

५. इस सम्बन्ध में हमें और जो कुछ कहना है, आगे के अध्यायों में कहेंगे। यह अध्याय तो सामान्यतः यह बतलाने के लिए है कि अच्छी रचना के लिए जो अच्छी भाषा चाहिए, उसका सामान्य स्वरूप क्या है। अच्छी भाषा भी प्रयोग-वैरूप्य से बुरी हो जाती है! अच्छी तलवार भी बेकार होकर पराजय का कारण बन जाती है, यदि उसका प्रयोग अच्छा न किया गया! तलवार चलानेवाला अच्छा चाहिए, तभी काम होगा। सो, भाषा का प्रयोग ठीक होना चाहिए। इसके लिए महाकवि भारवि की सलाह लीजिए। संक्षेप से नीचे छात्रोपयोगी अंश उनकी सम्मति का हम दे रहे हैं।

अच्छी भाषा ऐसी होती है

६. संस्कृत में महाकवि भारवि का राजनीति-प्रधान सुन्दर और विश्व-विश्रुत काव्य है—'किरातार्जुनीयम्'। इस महाकाव्य में प्रसंगवश दो-तीन जगह कवि ने बड़े ही सुन्दर ढँग से भाषा-सम्बन्धी अपना मत प्रकट किया है। हिन्दी के छात्रों के लिए सरस्वती के इस वरद पुत्र की सम्मति ध्यान देने योग्य है।

७. वनवास के समय कृष्णा ने बड़े ओजस्वी शब्दों में युधिष्ठिर की 'शान्तिप्रियता' की आलोचना की और युद्ध के लिए उत्तेजना दी। भीम को बात अच्छी लगनी ही थी ; अत्यन्त तर्क-संगत भाषा में आपने उस प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। उस अंश को पढ़ने वाला प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता है। खैर, हमें इस समय उसका आनन्द न लेकर प्रकृत विषय पर ही आना चाहिए। तो, भीम जब सब कुछ कह कर निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे, तब युधिष्ठिर ने, उत्तर देने के पूर्व, भीम की भाषा की प्रशंसा की। उन्होंने कहा :—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ,
हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिराम्,
मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।

भीम, तुम इतने भाषण-पटु हो और भाषा तुम्हारी ऐसी बढ़िया है कि 'विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते'—तुम्हारे भाषण में तुम्हारा अभिमत पूरा-पूरा और ज्यों का त्यों मूर्तिमान् होकर स्पष्ट हो गया है, जैसे निर्मल दर्पण में कोई चीज साफ दिखाई देती है। यही तो भाषण का और भाषा का महत्त्व है। कहना कुछ चाहते हैं और श्रोता समझता कुछ है ; या जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे स्पष्टता न मिली, तो भाषा किस काम की ! यह भाषा इतनी अच्छी क्यों है, इसके लिए पद्य के पूर्वार्द्ध में कई विशेषण हैं, जो उपमान ('आदर्श'—दर्पण) में भी लगते है।

८. पहला विशेषण है—

१—'अपवर्जितविप्लवे'

हमें भाषा अपवर्जितविप्लव चाहिए। यदि बाहरी बाधाएँ रहीं, तो भाषा काम न करेगी। भाषा-सम्बन्धी 'विप्लव' समय-समय पर खड़े कर दिये जाते हैं ! उदाहरणार्थ हिन्दी में संस्कृत की ऐसी सन्धियों का प्रयोग, जो यहाँ ग्राह्य नहीं ; हमारी भाषा की प्रकृति जिन्हें स्वीकार नहीं करती ! हिन्दी में 'अन्ताराष्ट्रिय' या 'अन्ताराष्ट्रीय' शब्द लीजिए। यह 'विप्लव', यह भाषा-सम्बन्धी गदर, कौन शान्त करे ? 'अन्ताराष्ट्रिय' कौन समझेगा हिन्दी-वाला ?

वैसी सन्धि न केवल दुर्बोध ही है, हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध भी है और इसके कोमल कलेवर में बड़े फोड़े की तरह दुखदायी है ! हिन्दी में हम 'अन्तर्राष्ट्रीय' ही चलाते, यदि वहाँ 'अन्तर' शब्द होता । परन्तु वहाँ वह शब्द है ही नहीं—'अन्तर' सस्वर शब्द है, जो 'पुस्तकान्तर' तथा 'देशान्तर' आदि में है और 'दूसरा' अर्थ जिसमें निहित है । 'देशान्तर'—दूसरा या दूसरे देश । इसी 'अन्तर' का जब हम पूर्व-प्रयोग कर देते हैं, तो अर्थ में कुछ विशेषता आ जाती है—'अन्तरदेशीय सम्मेलन'—ऐसा सम्मेलन, जिसमें न केवल इसी देश के, प्रत्युत दूसरे या अन्य देशों के लोग भी सम्मिलित हैं । 'देशान्तर-सम्मेलन' का अर्थ है—ऐसा सम्मेलन, जिसमें (इस देश के तो नहीं) दूसरे देशों के लोग हैं । यों 'दूसरा' या 'अन्य' अर्थ 'अन्तर' में बराबर है । पर-प्रयोग और पूर्व-प्रयोग में विशेषता है । इस 'अन्तर' की जगह 'अन्तर्' शब्द चला, जिसका अर्थ है—'भीतर'। 'अन्तर्गृह' 'अन्तःकरण' 'अन्तःप्रवृत्ति' और 'अन्तर्देशीय पत्र' । यदि 'अन्तर-राष्ट्रीय' की जगह, उसी अर्थ में 'अन्तर्-राष्ट्रीय' रखते हैं, तो अर्थ होगा—'राष्ट्र के भीतर की चीज' । 'काशी में अन्तर्राष्ट्रीय (या अन्ताराष्ट्रिय' किंवा 'अन्ताराष्ट्रीय') सम्मेलन हुआ' इसका अर्थ यह होगा कि काशी में ऐसा सम्मेलन हुआ, जिसमें इस राष्ट्र के भीतर बसने वाले लोगों ने भाग लिया । क्या यह अर्थ अभिप्रेत है ? नहीं, तब इस शब्द से जबर्दस्ती वह 'अर्थ' आप ले रहे हैं, जिसके देने की शक्ति उसमें नहीं । यही 'विप्लव' या गदर का चिह्न है— बलात् 'अर्थ' निकलवाना ! ऐसे विप्लव से भाषा विकृत हो जाती है । वह स्वारस्य से अर्थ नहीं देती ! गड़बड़ मच जाती है । ऐसे विप्लवों से भाषा को बचाना चाहिए ।

९. 'राष्ट्रिय' शब्द में भी वही विप्लव है । हिन्दी में सदा तद्धित 'ईय' चलता है—भारतीय, प्रान्तीय, केन्द्रीय आदि । इसी तरह हमारे यहाँ 'राष्ट्रीय' है । न जाने किसने एक बार कह दिया कि संस्कृत में 'राष्ट्रीय' नहीं, 'राष्ट्रिय' होता है ; इसलिए (हिन्दी में) राष्ट्रीय गलत है । भेड़-चाल, लोग 'राष्ट्रिय' लिख चले ! फल यह हुआ कि 'केन्द्रीय' को 'केन्द्रिय' और 'प्रदेशीय' को 'प्रदेशिय' लोग लिखने लगे ! 'विशाल-भारत' जैसे भाषा-शुद्धि के पक्षपाती पत्र में 'केन्द्रिय' चलने लगा ! यह सब तो विप्लव में होगा ही । अरे भाई, संस्कृत में 'राष्ट्रीय' गलत है, तो हिन्दी में भी गलत हो ; यह किसका हुक्म है ? गदर !

१०. इसी तरह व्याकरणकारों ने गदर मचा दिया था, यह लिख कर कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भाववाच्य नहीं होती हैं ! इसलिए नहीं होती हैं कि संस्कृत में नहीं होती हैं ! जब बताया गया कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भाववाच्य बहुत ज्यादा चलती हैं और कहा गया कि—

१. पाल-पोस कर मा ने लड़की को इतना बड़ा बनाया

२. मा ने मेरी बहन को देखा

३. तुमने हमको देखा

इत्यादि सकर्मक क्रियाएँ हिन्दी में भाववाच्य नहीं हैं, तो क्या कर्तृ-वाच्य या कर्म-वाच्य हैं ; तब लोग चकराए, कुछ होश आया । वाच्य-चर्चा ही बन्द हो गई, परीक्षाओं में वाच्य-परिवर्तन के प्रश्न आने बन्द हो गए ! यह सब समझाया गया लगभग पचीस वर्षों में ! संस्कृत में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भाववाच्य नहीं होतीं, इसलिए हिन्दी में भी न होनी चाहिएँ, यह विप्लव-कारी हुक्म ! जबर्दस्ती चलती नहीं । व्याकरण की पुस्तकों में वैसा लोग पढ़ते-लिखते रहे और हिन्दी अपनी सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भाववाच्य धड़ल्ले से चलाती रही ! यह थोड़ा विप्लव है ? पचीस-तीस वर्ष उस हुक्म-नामे को रद्द कराने में लगे ; परन्तु 'राष्ट्रिय' के लिए उतना संघर्ष न करना पड़ेगा । लोग राष्ट्रीय-भावना में आ गये हैं । 'अन्तर्' तथा 'अन्तर' का अन्तर तो सभी समझ गये हैं ।

११. इसी तरह 'राजनीतिक' विप्लव है । हिन्दी में सर्वत्र 'नैतिक', 'बौद्धिक', 'सैद्धान्तिक', आदि शब्द चलते हैं ; उसी तरह 'राजनैतिक' चल रहा था । परन्तु काशी के किसी विद्वान् ने कह दिया कि संस्कृत में 'राजनीतिक' होता है ; इसलिए हिन्दी में 'राजनैतिक' गलत ! विप्लव खड़ा हो गया । बड़े-बड़े विद्वान् भी 'ऐतिहासिक' को 'इतिहासिक' लिखने लगे ! इस तरह यह विप्लव चल रहा है ! हिन्दी में अन्य शब्दों की तरह एक पटरी पर 'राजनैतिक' का भी चलना लोगों को अच्छा न लगा ! संस्कृत में वैसा नहीं है ! पूछो, हिन्दी और संस्कृत में कुछ भेद है कि नहीं ? हिन्दी का अपना मार्ग है । परन्तु 'नीम हकीम' या 'नेमि-वैद्य' तो जान लेने पर उतारू हैं ?

१२. संक्षेप यह है कि ऐसे विप्लवों से भाषा दूषित हो जाती है । इनका अपवजन जरूरी है—पास न फटकने देना चाहिए । तभी भाषा अपनी चाल

पर चलेगी और तुम अपने मन की बात ठीक-ठीक हृदयग्राही रूप से किसी के मन में उतार सकोगे।

१३. दूसरी बात है—शुचिता, शुद्धता! भारवि के पद्य में दूसरा विशेषण है—

२—'शुचौ'

भाषा में पद-शुद्धि परमावश्यक है। दर्पण जरा भी मलिन हुआ कि व्यर्थ! वह अपना काम न करेगा।

१४. युधिष्ठिर ने कहा—भीम, तुम्हारी भाषा में पद-शुचिता बड़े महत्त्व की है। पद-शुचिता में दो चीजें हैं—(१) पद स्वरूपतः शुद्ध हों और (२) उनका प्रयोग भी शुद्ध ढँग से किया गया हो।

१५. पदों की स्वरूपतः शुद्धता के विषय में कुछ विशेष कहना नहीं है; सिवाय इसके कि हिन्दी में कुछ चमत्कारी लेखक 'सौजन्यता' तथा 'पाण्डित्यता' आदि गलत-सलत रूप लिखकर छात्रों को पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं! 'सौजन्यता' ऐसा ही है, जैसे 'सुजनतात्व'! और 'पाण्डित्यता' ऐसा है, जैसे 'पण्डिततात्व'! 'सुजन' से 'सौजन्य' और 'पण्डित' से 'पाण्डित्य' भाववाचक संज्ञाएँ जब बना लीं, तो उनके आगे फिर एक और भाव-वाचक प्रत्यय ('ता') जोड़ना ऐसा काम है, जैसे टोपी पर टोपी लगाना। ऐसे अशुद्ध पदों से बचना चाहिए। इसी तरह कुछ लोग 'अभिज्ञ' को 'भिज्ञ' कर देने की बुद्धिमानी करते हैं! 'अभिज्ञान' को अभी तक इन लोगों ने 'भिज्ञान' नहीं किया है; पर कालिदास को गलत जरूर समझते होंगे, जिन्होंने अपनी पुस्तक का नाम 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' रखा! सम्भव है, 'भिज्ञ'-मतवाले लोग 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के 'अभिज्ञान' का अर्थ 'अ-भिज्ञान'—'जानकारी का अभाव' समझते हों; क्योंकि शकुन्तला को भुला दिया गया था न! बलिहारी! परन्तु 'अभिलाष' को 'भिलाष' नहीं बनाया गया है। यह हिन्दी के दुर्भाग्य की न्यूनता समझिए।

१६. छात्रों को ऐसे अशुद्ध पदों से सावधान रहना चाहिए और शुद्ध प्रवाह-प्राप्त शब्द ही देने चाहिएँ।

१७. दूसरी बात पदों के सही प्रयोग करने की है। शुद्ध पदों का भी

यदि सही प्रयोग न हो, तो अर्थसिद्धि नहीं होती—व्यर्थ का वाग्जाल तैयार हो जाता है। हिन्दी में अनेक आधुनिक कवियों की वाणी इसका उदाहरण है। प्रत्येक पद का अर्थ अलग-अलग साफ निकलेगा ; क्योंकि वे शुद्ध हैं ; परन्तु उनका प्रयोग इस अशुचि (अशुद्ध या बेढँगे) रूप से हुआ है कि सुनिश्चित सम्पुटित वाक्यार्थ निकलना कठिन ; वस्तुतः असम्भव ! तुलसी-सूर आदि के पद-प्रयोग देखिए, अर्थ छलकता है, ऊपर ही झलकता है। अंगूर समझिए। केशवदास को भी नारियल समझ सकते हैं। परन्तु पत्थर के गोले किस काम के ? यदि कारीगर ठीक-ठीक सामञ्जस्य से संगमर्मर के उन टुकड़ों को यथास्थान न बैठाता, तो 'ताजमहल' ऐसा मोहक बन जाता क्या ? पद-प्रयोग का यह विषय बड़े महत्व का है। इसका पूरा वर्णन, परन्तु संक्षेप से, मैं अपनी नई पुस्तक 'अच्छी रचना' में करूँगा। ऐसी इच्छा इस समय तो है ; आगे राम-इच्छा। यहाँ तो प्रसंगतः इतना लिखा गया।

१८. यों दो बातें बताई गईं। तीसरी बात है, हृदयग्राहिता। तीसरा विशेषण है—

३—हृदयग्राहिणि'

भाषा को हृदयग्राही होना चाहिए—ऐसी भाषा हो कि श्रोता या पाठक के हृदय को छू सके। यह हृदयग्राहिता दो कारणों से आती है—दो उपाय हैं भाषा को हृदयग्राही बनाने के लिए। एक तो यह कि विषय या प्रतिपाद्य के अनुसार शब्द और शैली का रखना ; दूसरे भावों की अभिव्यंजना में सावधानी।

१९. भावों के अनुसार शब्दों का प्रयोग पहली चीज है। ताजमहल बनाने-बनवाने में जो महाध्यवसाय है और जो करोड़ों रुपये उस पर व्यय हुए हैं, सब व्यर्थ हो जाते, यदि कलाकार विषयानुरूप उपादान न चुनता ! उस महाशोक की व्यञ्जना में एकदम श्वेत रंग का पत्थर कितना सहायक है, क्या कहा जाय ! उस कला-केन्द्र में पहुँच कर भी मन में केलि-कला का स्पर्श तक नहीं होता ; मन में एक विचित्र प्रकार का निर्वेद जागृत होता है। सफेद रंग सादगी का प्रतीक है। यदि रंग-बिरंगे तड़क-भड़कदार कीमती पत्थरों

से वह इमारत बनती, तो कैसा रहता ? क्या उस भाव की व्यञ्जना होती, जिसमें डूब कर उस इमारत का निर्माण हुआ है ?

२०. इसके विपरीत, किसी विवाह-मण्डल की रचना यदि एकदम श्वेतिमा में डुबो दी जाय, रंग-बिरंगापन, हरियाली और गुलाबीपन कहीं न हो, तो कैसा लगेगा ?

२१. इसी तरह भाषा में भावानुरूप शब्दों का महत्व है। कोमल और मधुर वर्णन में शब्द भी कोमल-मधुर देने चाहिएँ, परुष वर्णन में परुष और साधारण में साधारण। हमारी हिन्दी में सब तरह के शब्द हैं।

२२. मधुर वर्णन में ऐसे शब्दों से बचना चाहिए, जो कठोर हों। टवर्ग के आधिक्य से तथा संयुक्त अक्षर अधिक होने से कठोरता आ जाती है। इसीलिए प्रणयमानिनी का वर्णन करते हुए 'क्रोध' का नहीं, 'कोप' का प्रयोग होता है। 'कुपितो मकरध्वजः' कहा जाता है, 'क्रुद्धो मकरध्वजः' नहीं। 'म' तथा 'न' वर्ण स्वतः मधुर हैं ; अतएव इनके संयोग में कठोरता नहीं आती, मधुरता ही बढ़ती है—'अधरनि कम्प अनन्त उदै'। परन्तु 'ण' ट वर्ग है, इसलिये उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता—'प्रचण्ड चण्डभानु से खमण्डल जलने लगा'। 'ण' और 'ड' के संयोग से कठोरता आ गई है, जो यहाँ तपते हुए चण्डांशु के वर्णन में सुन्दर है। वर्गों के प्रथम तथा तृतीय अक्षर साधारण हैं—न मधुर, न परुष। किसी भयंकर वर्ण से संयोग हो गया, तो भयंकर बन गए—'आक्रोश प्रलयंकर तुम्हारा'। यहां 'क्रो' कितना क्रूर हो गया है ? परन्तु यदि ये ही वर्ण मधुर 'न', 'म' या अनुस्वार आदि का सहयोग पा जाएँ तो फिर मधुरता की धारा बहा देते हैं—'कन्त न आए बसन्तहु में सखि' और 'कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि' में देखिए। 'झरत अरबिन्दनि ते बुन्द मकरन्द के' भी देखिए।

२३. वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर कर्कश हैं, क्योंकि वे वस्तुतः संयुक्त हैं ; सब में अलक्षित रूप से महाप्राण 'ह' बैठा हुआ है ! वर्गीय प्रथम अक्षर 'ह' के संयोग से द्वितीय (संयुक्त) व्यञ्जन बन गये हैं और तृतीय वर्ण चतुर्थ रूप में आ गये है—क च ट त प—ख छ ठ थ फ और ग ज ड द ब—घ झ ढ ध भ। स्वभावतः वर्गीय द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण परुष हैं और वैसे ही वर्णन में इनकी उपयोगिता है—'नाथ भूधराकार-सरीरा' में कुम्भकर्ण को

'भूधराकार' कहना बहुत ठीक। 'भ' तथा 'ध' ये दो महाप्राण वर्ण उस महाप्राण के वर्णन में बहुत फबते हैं। 'पर्वताकार' में यह बात न रहती।

२४. यों वर्णन के अनुसार वर्ण-पदों का विन्यास भाषा को हृदयग्राही बनाता है।

२५. परन्तु अहृद्यता न आने देने का भी ध्यान रखना चाहिए—कम से कम अश्रव्यता से तो बचना ही चाहिए। 'क' के अनन्तर ही दूसरा 'क' आ जाने से अश्रव्यता आती है—'काक कहो अपनी तुम भी कथा' यहाँ 'क' के अनन्तर 'क' बोलने-सुनने में हृद्य नहीं हैं। इसी तरह 'पाप पड़ोसी के सीस परयो' में 'प' के अनन्तर 'प' भी वैसा ही है, 'कब बड़े जन हैं मिलते भले ?' इसी तरह अन्य वर्ण समझिए। परन्तु 'न' और 'म' अपवाद हैं। 'कारन नेकु न जान्यो परै' में 'न' के अनन्तर 'ने' अश्रव्य नहीं है। इसी तरह—'नाम महीपति का इतना' में 'म' के अनन्तर 'क' में अश्रव्यता नहीं है।

२६. सानुप्रास शब्दावली से हृद्यता बढ़ जाती है। 'काग के भाग बड़े सजनी' में सुन्दरता है। 'झरै अरबिन्दनि ते बुन्द मकरन्द के' यहां अनुप्रास कितने मधुर हैं। परन्तु अनुप्रासों के चक्कर में ऐसा न बहना चाहिए कि अर्थ ही चक्कर में पड़ जाए ! 'वनज-वनचारी' में 'वनज' अनुप्रास-मोह का ही फल है। 'वन' का अर्थ 'जंगल' प्रसिद्ध है। संस्कृत कोष में कहीं वन का अर्थ 'जल' भी है ; परन्तु प्रयोग वहाँ भी नहीं देखा जाता, इस अर्थ में। 'जलज' के अर्थ में 'वनज' यहाँ अनुप्रास के लिए ही दिया गया है, जो ठीक नहीं। इसी तरह 'वनवाहन काठ को' में 'वाहन' के मेल के लिए 'वन' दिया गया है। 'जल-वाहन' को 'वन-वाहन' कहा गया है। प्रकरण-वश यहाँ अर्थ लग भी जाता है ; अन्यथा अर्थ समझने में ही गड़बड़ पड़ती। सो, अनुप्रास के मोह में या 'यमक' के चक्कर में इस तरह न पड़ना चाहिए कि वाक्यार्थ उलझन में पड़ जाए। पाठक को रस के प्रवाह में बहना चाहिए। वह अटपटे शब्दों की झंझट में पड़ा कि विच्छेद हुआ।

२७. इसी तरह की शब्द-सम्बन्धी अनन्त बातें हैं, जिनका ध्यान रखने से भाषा अच्छी बनती है।

२८. दूसरी बात है भाव-व्यञ्जना की। इसमें बहुत सावधानी चाहिए। यदि भावों की व्यंजना इतने उथलेपन से हुई कि चरवाहे भी तुरन्त समझ जाएँ,

तो रसिक जनों के आकर्षण की चीज न रहेगी। और, यदि व्यञ्जना इतनी गूढ़ हो गई कि काव्यरसिक कृतविद्य जनों को भी, नाक-कान बन्द करके घंटों की डुबकी लगाने पर भी, कुछ न मिले; बड़े-बड़े गोताखोर भी खाली हाथ लौटें, तो समझना चाहिए कि यह रत्नाकर नहीं, ढपोरशंखों का घर है, जो इसकी महिमा का निनाद किया करते हैं !

२९. भावों की व्यञ्जना ऐसे मधुर ढँग से होनी चाहिए कि न तो एकदम उथलापन हो और न इतने अतल में चीज रखी हो कि किसी को ढूंढे ही न मिले। हरद्वार की निर्मल गंगा में पड़ी हुई प्रत्येक चीज जैसे कुछ झिल-मिल सी दीखती है, उसी तरह भावव्यञ्जना होनी चाहिए; जैसी कि तुलसी-सूर तथा भूषण आदि ने प्रदर्शित की है।

३०. इन दो बातों से—इन्हीं के अन्तर्गत बहुत सी बातें हैं, जिनसे—भाषा हृदयग्राही होती है।

३१. इस तरह भाषा के ये तीन गुण हुए। चौथा और सब से मुख्य गुण है—'मङ्गलास्पदता'। वाणी वही, भाषा वही सुन्दर, जिसमें लोक-कल्याण की भावना निहित हो। इसीलिए भारवि ने अन्तिम विशेषण दिया है—

४—'मङ्गलास्पदे'

यदि भाषा में वे सब बातें पूर्ण रूप से हुईं, जिनका उल्लेख पीछे हुआ है, पर उसमें लोक-मङ्गल की भावना न हुई, तो किस काम की ! 'विषरस भरा कनक-घट जैसे' ! काश्मीरी सेब सुन्दर रंग रखते हैं; आकार भी सुन्दर है; परन्तु इतने मात्र से ही उनकी प्रशंसा नहीं है। भीतर सार यदि मधुर-सुस्वादु तथा पोषक न होता, तो वैसे सुन्दर वर्ण-आकार मात्र से उसे वह महत्व न मिलता। और, यदि उसके भीतर विष भरा होता तो ? बस, यही दशा भाषा की समझिए। भाषा तो माध्यम भर है; असली चीज दूसरी है। उसी से चीज ग्राह्य या अग्राह्य होगी। सो, वाणी को 'मङ्गलास्पद' होना चाहिए। स्वर्ण-कलश में भर कर अनर्थकारी मदिरा या विष जनता को देना अच्छा नहीं है।

× × × ×

भारवि का एक और पद्य लीजिए। युधिष्ठिर भीम की ही वाणी का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

स्फुटता न पदैरपाकृता,
न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिराम्,
न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।

भीम, तुम्हारे वाक्य काव्य बन गये हैं ! क्या कहना !

पहली बात—

'स्फुटता न पदैरपाकृता'

वाक्यों में इस तरह के पद हैं और उन पदों का ऐसा स्वाभाविक प्रयोग है कि अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति में जरा भी बाधा नहीं आती—अर्थ पदों पर थिरकता-सा नजर आता है और सम्पुटित वाक्यार्थ स्वतः सामने आ जाता है। किसी पद का अर्थ तलाश नहीं करना पड़ता, शब्द-कोष के पन्ने नहीं उलटने पड़ते। प्रयोग इतना सुन्दर है कि अन्वय स्वतः हो जाता है। जिसे जिस पद की आकांक्षा है, उसके समीप वह स्वतः खिंच जाता है। पाठक या श्रोता को सिर खुजलाना नहीं पड़ता।

इससे यह भी न समझना चाहिए कि वाक्यों में अर्थ-गौरव नहीं है। छोटे-छोटे वाक्य और सरल-सुन्दर पद अर्थ-गौरव से भरे हुए हैं—

'न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्'

यह नहीं कि इन सरल मृदु पदों में और मोहन वाक्यों में अर्थ-गौरव न हो। अर्थ-गौरव के लिए वैसे भारी-भरकम जटिल वाक्य और उनके लिए अप्रसिद्ध तथा अप्रसिद्धार्थ पद अपेक्षित नहीं हैं। सरल-मधुर पद तथा छोटे-छोटे प्रसाद-पूर्ण वाक्य अर्थ-गाम्भीर्य से पूर्ण हैं। एक तोला सोने की रत्नजटित अंगूठी का 'अर्थ' मनों लौह-पिण्ड से बहुत अधिक होता है। हाँ, लोहे का लोहे से ही सामना हो, तब भारीपन अवश्य देखा जाएगा। पर उसमें भी अवान्तर-भेद से मूल्याङ्कन होगा, जहाँ भारी-भरकम होना जरूरी नहीं।

और फिर विभिन्न पदों में तथा अवान्तर वाक्यों में पुनरुक्ति नहीं—एक ही अर्थ का पिष्ट-पेषण या चर्वित-चर्वण नहीं—

अच्छी रचना और अच्छी भाषा

'रचिता पृथगर्थता गिराम्'

सब पद और वाक्य अपना-अपना पृथक् अर्थ दे रहे हैं, जिनकी एकार्थत. वक्तव्य के केन्द्र में है। कोई वाक्य, पद या वर्ण अनावश्यक प्रयुक्त नहीं है।

और—

'न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्'

भाषा में कहीं कोई एक भी पद ऐसा नहीं, जो एक दूसरे से साकांक्ष न हो। एक पद को दूसरे की जरूरत रहती है। वह जरूरत तुरन्त पूरी। ऐसा नहीं कि किसी पद की जरूरत है और वह वहाँ है नहीं! अर्थ-विप्लव नहीं है! पाठक सोच-समझ कर कोई पद ढूंढे और वहाँ उसे घसीट कर लाए, तब काम चले; ऐसी भाषा किस काम की!

उपर्युक्त दो पद्यों में भारवि ने भाषा के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया है। भाव-प्रकाशन तथा गूढ़-गम्भीर अर्थों का भी सफलता के साथ चित्रित कर देना इसके आगे की बात है।

× × × ×

विद्वानों में ऐसे बहुत कम होते हैं, जिनके मन में किसी नई अर्थ-सम्पद् का उदय हो। जो नई उद्भावना करते हैं, वे 'विपश्चित्' हैं। इन विपश्चितों में फिर कुछ ऐसे भी निकल आते हैं, जो अपने मन की वह अर्थ-सम्पद्, लोक-हित की कामना से, कागज पर उतार देने की इच्छा करते हैं—अपना ज्ञान या अनुभव लिख कर प्रकट करते हैं। परन्तु गम्भीर विषयों को सरलता से प्रकट कर देना एक ऐसी कला है, जो सभी लेखकों के लिए सम्भव नहीं। तो भी, उन्हीं विपश्चित् लेखकों में कोई ऐसे भी निकल आते हैं, जो गूढ़ से गूढ़ अर्थ को, गम्भीर से गम्भीर विषय को, इस ढँग से प्रकट कर देते हैं कि थोड़ी बुद्धि रखने वाला भी समझ ले। यह सब भारवि इस पद्य में कहते हैं—

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितः,
मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणाः,
गम्भीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम्।

विपश्चितों में भी वे (विपश्चित्) सर्वोपरि महत्त्व रखते हैं, जो अपने मन की बात वाणी पर उतार देते हैं—कविता-कहानी आदि में सुन्दर भावनाओं की व्यञ्जना करते हैं। इन्हीं लेखकों में कोई ऐसे भी प्रतिभा-सम्पन्न प्रकट हो जाते हैं, जो गहन-गम्भीर तत्त्वों को अपनी वाणी द्वारा मूर्तिमान कर देते हैं—जो कठिन से कठिन विषय को सरलता से समझा देने की शक्ति रखते हैं। यह शक्ति भाषा-प्रयोग की कुशलता ही तो है! किस पद से, कैसे वाक्यों से, किस तरह यह बात समझाई जाए, इसे सोचना और फिर उसे भाषा में अच्छी तरह बाँध देना ही 'निबन्ध' है। निबन्ध को ऊँचा कर दो, उसे प्रकृष्ट रूप दे दो, वही 'प्रबन्ध' है, जिसे 'ग्रन्थ' कहते हैं। भावों या विचारों का एक जगह ग्रन्थन, जैसे विविध पुष्पों को गूँथ कर एक सुन्दर हार बनाना।

यह सब भाषा-प्रयोग की कुशलता पर है। भाषा का प्रयोग करना आता है, तो बड़ी विद्वत्ता के बिना भी सुख तथा यश प्राप्त कर सकते हो—दूब और घास-पात का चित्र उतार सकते हो। कवि बन जाओगे। न विज्ञान की वैसी जरूरत, न दर्शन की गुत्थियों में उलझने की। इसके विपरीत, यदि बहुत बड़ी विद्वत्ता है, परन्तु भाषा-प्रयोग में कमी है, तो फिर 'शतं वद एकं मा लिख' कहते रहोगे—कुछ लिख न सकोगे! क्या लाभ? सो, भाषा का प्रयोग करना सीखो, नेता बन जाओगे।

भाषा स्वरूपतः परिष्कृत, प्रवाह-प्राप्त तथा विप्लव-रहित होनी चाहिए; फिर उसका भाव या वर्णनीय विषय के अनुरूप प्रयोग होना चाहिए। यही इस अध्याय का संक्षेप है—

गुञ्जन करती मधुर, मधुर वर्णन में वाणी;
वही गरजती विकट, महारण में कल्याणी;
निज शिशु के हित सरस मधुर, जो कुसुम-सदृश थी,
'लक्ष्मी बाई' वही, शत्रु को काल-कुलिश थी।
वाणी का सौन्दर्य्य है, खिलता उचित प्रयोग से;
जैसे मानव-सृष्टि हो, सुखमय गीता-योग से।

दूसरा अध्याय

हिन्दी का स्वरूप-गठन

यह समझा कि 'अच्छी भाषा' किसे कहते हैं। अब हम हिन्दी का स्वरूप देखेंगे। हमें जान पड़ता है कि हिन्दी स्वतः बहुत अच्छी भाषा है। अच्छी भाषा का जो स्वरूप हमने देखा, वह हिन्दी का प्रकृत रूप है। ऐसी अच्छी भाषा का यदि स्वाभाविक प्रयोग भी किया जाए, कोई बनाव-चुनाव न किया जाए, तो भी एक मोहकता सामने आएगी। गुलाब के फूल में सलमा-सितारे टाँकने की जरूरत नहीं है। प्रकृत सुन्दरी को गहनों से लादना या तड़क-भड़कदार कपड़े पहनाना कदाचित् उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को ढँकना है। उसके लिए तो शील-शालीनता ही सजावट है। सादी धोती और कंचुक, मस्तक पर सौभाग्य-बिन्दी, हाथों में दो-दो चूड़ियाँ और हो सके तो एक अँगूठी और एक गले का स्वर्णाभूषण ; इतना पर्याप्त है। यदि अंगूठी और गले का आभूषण न हों, तो भी कोई सौन्दर्य-हानि नहीं।

परन्तु उस प्रकृत-सुन्दर रूप को विकृत न किया जाए, इतना आवश्यक है। 'लिपस्टिक' से अधरों में कृत्रिम अरुणिमा अच्छी नहीं, बाजारूपन है। पान अच्छी चीज है। नख-राग का उपयोग करके नखों के स्वाभाविक रंग को दबा देना और कृत्रिम रंग से उन्हें विकृत कर लेना, क्या ठीक है ? ऐसा जान पड़ता है कि चमड़ा रंगने का काम किया हो ! अपनी मेहँदी हजार दर्जे अच्छी। परन्तु अंग्रेजी-पढ़ी स्त्रियों ने पान, काजल तथा महँदी जैसे प्रकृत तथा स्वास्थ्यवर्द्धक प्रसाधनों का मजाक उड़ा-उड़ा कर एकदम मिटा दिया है ! कंचुक या कुर्ता इस ढँग का पहनना कि आगे गले की उभरी हुई हड्डियाँ सबसे पहले दिखाई दे, क्या शोभा का चिह्न है ? इन सब बातों का ध्यान प्रकृत सुन्दरी को भी रखना होगा। अन्यथा, वह अपने प्रकृति-प्रदत्त रूप को विद्रूप कर लेगी।

यही बात भाषा के सम्बन्ध में है। सहज सुन्दर गठन जिसका है ; जहाँ सुन्दर वर्ण, सभी अंगों में पूर्णता है ; न 'छंगापन' न 'कमंगापन' ; और जो किसी भी सन्देह या भ्रम से परे है, उस हिन्दी भाषा को भी लोग अपने विविध 'प्रयोग-परिष्कारों' से विकृत कर देते हैं ! जो बोल-चाल की प्रकृत हिन्दी है, उसी का प्रयोग शिष्ट-सम्मत किया जाए, तो कितना अच्छा ? कुछ लोग तो अज्ञानवश विद्रूप प्रयोग कर जाते हैं, जिनमें अहिन्दीभाषी ही प्रायः अधिक हैं। परन्तु इनसे भी अधिक विद्रूपता पढ़े-लिखे 'विद्वान्' लोग लाते हैं। वेपढ़ी स्त्रियाँ अपनी आँखों में बहुत मोटा काजल बोंग कर गँवारूपन प्रकट करती हैं, तब उतना बुरा नहीं लगता, जितना पढ़ी-लिखी स्त्री की लिपस्टिक-विद्रूपता से। ऐसा लाल वर्ण, जैसे खून का रंग। अपनी समझ से प्रयोग-परिष्कार है—सौन्दर्यवर्द्धन है ! यदि हल्का रंग लाया जाय, जो फब जाए, तब तो कोई बात भी है। वैसा रंग पान से आ जाता है। कण्ठ-माधुर्य भी बढ़ता है।

सो, पढ़े-लिखे और अधिक बुद्धि का प्रयोग करने वाले ही हिन्दी को अधिक विकृत करते हैं। नाम लेने की जरूरत नहीं ; पर 'मैंने उन सब गलतियों को समझ ली हैं' ऐसे प्रयोग उन माननीय लेखकों के ग्रन्थों में हैं, जिन्हें हमने 'साहित्य-वाचस्पति' घोषित किया है ! ऐसे ग्रन्थ हिन्दी की उच्च परीक्षाओं में पाठ्य ग्रन्थ हैं, जिन्हें शतशः-सहस्रशः छात्र पढ़ते हैं ! ऐसे विद्वानों ने ऐसी गलतियाँ अज्ञान से नहीं, 'ज्ञान' से की हैं, पुस्तक भर में एक-दो नहीं, शतशः ऐसे प्रयोग हैं। लेखक विद्वान्, और हिन्दी-भाषी ; फिर ऐसी गलतियाँ क्यों ? उसी 'ज्ञान' के कारण। एक 'साहित्य-वाचस्पति' 'चुनाव' को 'चुनाई' के रूप में बहुत दिन तक कहते चलाते रहे। जब सार्वजनिक रूप से इसकी चर्चा एक साहित्यिक-साप्ताहिक पत्र में की गई और 'चुनाव' तथा 'चुनाई' का भेद समझाया गया, तब वे सही रास्ते पर आए ! लेखकों ने पं० कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी-व्याकरण' में तथा इसी पर आधारित सभी हिन्दी-व्याकरणों में पढ़ा कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भाववाच्य नहीं होती हैं—कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य होती हैं। इसी व्याकरण-सिद्धान्त के 'ज्ञान' का फल वैसे वाक्य हैं—'मैंने उन सब भावनाओं को भली भाँति देख ली हैं।' यों 'व्याकरण' ने एक झमेला खड़ा कर दिया ! हिन्दी के अनेक परिष्कार-ग्रन्थों में इस 'को' के झमेले में बड़ी परेशानी प्रकट की गई है और

झुँझला कर सभी अनर्थों का मूल इस 'को' विभक्ति को ही बताया गया है ! इससे बचने का उपदेश भी दिया गया है, जिसका फल अहिन्दीभाषियों के 'राम ने तुम देखे' जैसे वाक्य हैं। यह तो हुई 'ज्ञान' के कारण विकृति की बात। अहिन्दीभाषी जन तो हिन्दी की प्रकृति से अभी पूर्ण परिचित नहीं और हिन्दी का सचमुच कोई व्याकरण था ही नहीं, जो उनके सामने हिन्दी का स्वरूप प्रकट करता ! अब 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' निकला है और निःसन्देह इससे अहिन्दीभाषियों के प्रायः सब हिन्दी-विषयक सन्देह दूर हो गए हैं। यह बात अहिन्दीभाषी प्रान्तों ने ही खुल कर प्रकट कर दी है। इस व्याकरण में 'को' की चर्चा है और 'ने' को तो बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया गया है ; परन्तु कुछ नई बातें और यहाँ कहनी हैं। इनसे हिन्दी का गठन सामने आ जाएगा और 'को' का प्रकृत रूप भी समझ में आ जाएगा। जिसे व्याधि समझ लिया गया है, वह संजीवनी है—न जाने कितने संकटों में काम देती है। परन्तु गेहूं की तरह संजीवनी का आटा बना कर रोटी बनाए-खाए, तो इसका क्या उपाय ? फिर चिल्लाता फिरे कि 'इस संजीवनी ने ही मुझे निर्जीव-शक्तिहीन कर दिया है, इससे लोगों को बचना चाहिए,' तो आप क्या कहेंगे ?

खैर, अब आप—

'को' की कथा सुनिए

हिन्दी का गठन इतना सुन्दर है कि 'को' 'ने' 'से' 'में' तथा 'पर' जैसी गिनी-चुनी पाँच-सात विभक्तियों से सब का सब और पूरा काम बड़े मजे से चलता है ; न कहीं सन्देह, न भ्रम। वाक्यविन्यास में 'कर्ता'-'कर्म' आदि, क्रम बदल कर, चाहे जहाँ इधर-उधर हो जाएँ, उनके कर्तृव्य-कर्मत्व की पहचान में कोई गड़बड़ नहीं पड़ती। संस्कृत में भी यह बात है ; पर वहाँ विभक्तियों से सब स्पष्ट होता है। अंग्रेजी में वैसी विभक्तियाँ नहीं ; पर क्रम-बद्धता कर्तृत्व आदि प्रकट करती है। परन्तु हिन्दी का गठन ऐसा है कि विभक्ति-विहीन भी पद स्पष्टतः कर्तृत्व-कर्मत्व आदि प्रकट करते हैं, चाहे जिस क्रम से रख दो। कविता में तो प्रायः कोई क्रम रहता ही नहीं। फिर भी कभी कारक-भ्रम किसी को नहीं होता।

हिन्दी इतनी वैज्ञानिक भाषा है कि इसके गठन में एक अक्षर भी फालतू नहीं है। कर्ता या कर्म की पहचान के लिए वहीं विभक्ति का प्रयोग होता है, जहाँ उसकी अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ती है। अन्यथा 'को' से रहित 'कर्म' और 'ने' आदि से रहित ही 'कर्ता' चलते हैं। भ्रम की गुंजाइश ही नहीं। 'को' से बचने की जरूरत नहीं, वह स्वयं ही सामने आने से बचती है। 'को' कोई 'नेतृत्वाकांक्षी चंचल युवती नहीं है कि वाक्य के 'प्लेटफार्म' पर जा-बेजा फुदकती फिरे ! नीचे यह सब स्पष्ट किया जाता है।

१–राम फल देखता है।
२–गोविन्द प्रयाग जाता है।
३–लड़की रोटी खाती है।
४–बन्दर फल खाते हैं।

वर्तमान काल की क्रिया के चार वाक्य ऊपर दिए हैं। इनमें न कर्ता में कोई विभक्ति है, न कर्म में 'को' आदि। अर्थ-भ्रम की भी कोई गुंजाइश नहीं।

परन्तु—

१–राम गोविन्द को देखता है।
२–गोविन्द मुझको (या मुझे) देखता है।
३–लड़की लड़की को देखती है।
४–बन्दर बच्चों को डराते हैं।

इन चारों उदाहरणों में कर्म कारक 'को' विभक्ति के साथ है। यहाँ 'को' की अनिवार्य आवश्यकता है। उसे हटा देने से वाक्य लुंजपुंज हो जाएगा, अकिञ्चित्कर हो जाएगा।

आप ने सोचा, कारण क्या है ? वर्तमान काल की क्रिया में एक जगह कर्म 'को' विभक्ति से रहित, अन्यत्र सहित ; यह क्या ? क्या यह अव्यवस्था है ?

नहीं, यह व्यवस्था है। ध्यान से देखिए, पहले चारों उदाहरणों में 'कर्म' ऐसे हैं, जो न देख सकते हैं, न स्वयं कहीं जा सकते हैं और न किसी को खा ही सकते हैं। इसलिए उनके 'कर्ता' होने की आशंका नहीं। इसलिए 'कर्ता' की पहचान के लिए, कोई विभक्ति नहीं ; क्योंकि देखनेवाले, जानेवाले और

खानेवाले स्पष्ट हैं। न कर्ता को किसी विभक्ति की जरूरत, न कर्म को। अनावश्यक विभक्ति के रूप में व्यर्थ बोझ हिन्दी को पसन्द नहीं।

परन्तु दूसरे चार उदाहरण भिन्नता लिए हुए हैं। वहाँ राम, गोविन्द, लड़की और बन्दर यद्यपि 'देखने' आदि का काम करते हैं और इसीलिए निर्विभक्तिक हैं; परन्तु वही सब काम 'गोविन्द', 'मैं', 'लड़की' तथा 'बच्चे' भी तो कर सकते हैं न? इनके भी तो आँखें आदि हैं न? कारकों का क्रम-निर्देश हिन्दी में अनिवार्य है ही नहीं। तब 'कर्म' को 'कर्ता' और 'कर्ता' को 'कर्म' यदि कोई समझ ले तो? उसका क्या दोष? वह दोष तो भाषा का होता—

राम गोविन्द देखता है

क्या मतलब? इसी गड़बड़ या अव्यवस्था को दूर करने के लिए हिन्दी ने 'को' की व्यवस्था की है। अनावश्यक जगह है नहीं; आवश्यक स्थान से अलग होना भी असम्भव। रजाई हैं, जाड़े के लिए। गरमी में ओढ़ना बेवकूफी! यह है हिन्दी का स्वरूप-गठन।

इसी तरह साधारणतः निर्विभक्तिक क्रियाएँ भविष्यत् आदि में चलती हैं—न कर्ता में कोई विभक्ति, न कर्म में 'को' का झमेला—

१—राम फल देखेगा।
२—गोविन्द प्रयाग जाएगा।
३—लड़की रोटी खाएगी।
४—बन्दर फल खाएँगे।

विधि या आज्ञा में—

१—राम फल देखे।
२—गोविन्द प्रयाग जाए।
३—लड़की रोटी खाए।
४—बन्दर फल खाएँ।

परन्तु यहाँ 'को' कर्म में अनिवार्य है—

१—राम गोविन्द को देखेगा।
२—गोविन्द मुझको (या मुझे) देखेगा।
३—लड़की लड़की को देखेगी।

और विधि या आज्ञा में भी 'को' देखिए—

१—राम गोविन्द को देखे।
२—गोविन्द मुझे (या मुझको) देखे।
३—लड़की लड़की को देखे।
४—भेड़िए बकरियों को खाएँ न तो क्या करें ?

जड़ कर्म में भी 'धोती को (कसीदा आदि काढ़ कर) अच्छा बनाओ' यहाँ 'को' का काम है ; परन्तु 'जुलाहा धोती अच्छी बनाता है' यहाँ 'को' न लगेगी। वहाँ धोती बन चुकी है, उसमें कुछ और अच्छापन पैदा करना है। यहाँ अच्छापन धोती बनने के साथ-साथ है।

यदि 'कर्ता' में विभक्ति लग जाए, तो फिर ऐसे स्थलों में भी 'को' की जरूरत प्रायः नहीं रहती—

१—राम को लड़का देखना है।
२—मा को लड़की देखनी है।
३—भेड़िए को बकरा खाना ही है।

परन्तु प्रेरणा में जब असली कर्ता 'कर्म' का बाना पहन लेता है, तब उस (असली कर्ता या गौण कर्म) में 'को' या 'से' का प्रयोग करना ही पड़ता है—

१—राम गोविन्द को पुस्तक पढ़ाता है।
२—मा लड़की को कपड़े सीना सिखाएगी।
३—लड़के पिता को खेल दिखाएँगे।
४—माताएँ लड़कियों से रोटी बनवाएँगी।

'से' का प्रयोग क्यों हुआ ? यहाँ भी 'को' का क्यों नहीं ? सोचिए। यह इतना आपके सोचने के लिए छोड़ रहा हूं। यों ही विभक्ति-भेद नहीं है। कोई कठिन काम आपके लिए नहीं छोड़ा है।

सो, हिन्दी में 'को' आदि का कोई झमेला नहीं है। 'ने' तो बहुत स्पष्ट है—केवल कर्ता में ; सो भी भूत काल में ही ; और भूत काल में भी तब, जब सकर्मक क्रिया हो और उसका प्रयोग कर्म-वाच्य या भाववाच्य में हुआ हो ; जैसे—

१–राम ने वेद पढ़ा ।
२–तुमने वेद पढ़ा ।
३–लड़कियों ने वेद पढ़ा ।
४–सबने वेद पढ़ा ।

कर्म-वाच्य ; सर्वत्र 'वेद' के अनुसार पुल्लिङ्ग-एकवचन क्रिया—'पढ़ा' । स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में, सभी 'पुरुषों' और सभी वचनों में 'ने' है । कितनी सरलता है और कितनी स्पष्टता है ? इसी को लोग झमेला समझ बैठे हैं ! कर्म स्त्रीलिङ्ग कर दो—

१–राम ने पुस्तक पढ़ी ।
२–तुमने पुस्तक पढ़ी ।
३–लड़कियों ने पुस्तक पढ़ी ।
४–सबने पुस्तक पढ़ी ।

कर्म बहुवचन कर दो—'पुस्तकें' तो क्रियाएँ भी बहुवचन हो जाएँगी—'पढ़ीं' ।

भूत काल की भाववाच्य सकर्मक क्रिया हो, तब भी कर्ता में 'ने' विभक्ति लगती है और रूप-सौष्ठव या एकरूपता सम्पादन के लिए यहाँ कर्म में सदा 'को' विभक्ति रहेगी । भाववाच्य रूप सदा पुल्लिङ्ग एकवचन रहेगा, कर्ता तथा कर्म चाहे जैसे हों—

१–हमने राम को देखा ।
२–बहनों ने राम को देखा ।
३–बहनों ने बहनों को देखा ।
४–भाइयों ने भाइयों को देखा ।
५–सबने हमको देखा ।
६–मैंने वेदों को देख-भाल लिया ।

बस, इनके अन्यत्र और कहीं 'ने' आता नहीं । सब साफ और स्पष्ट है । भ्रष्ट व्याकरण-पुस्तकें भ्रम फैला रही हैं । उनमें 'ने' को 'करण कारक का चिह्न' बतला दिया गया है । हिन्दी में 'ने' केवल 'कर्ता' में लगती है ; केवल भूत काल में ; एक विशेष स्थिति में । 'ने' किसी भी दूसरे कारक का चिह्न नहीं ; किसी भी दशा में नहीं ।

'में' तथा 'पर'

'में' तथा 'पर' विभक्तियाँ भी झमेले की चीजें समझ ली गई हैं। दोनों का प्रयोग अधिकरण में होता है ; पर अर्थ-भेद से। अन्यथा, एक ही कारक के लिए हिन्दी-जैसी सुगठित भाषा दो विभक्तियाँ क्यों अपनाती ? दोनों के काम अलग-अलग हैं।

जैसा कि इन दोनों विभक्तियों के स्वरूप-गठन से भान होता है, ये 'मध्य' तथा 'उपरि' (ऊपर) की सन्तानें हैं ; इसलिए अपने पूर्वजों के गुण-कर्म इनमें स्वभावतः होने चाहिएँ। फलतः 'मध्य' या 'भीतर' जब कहना हो, तो 'में' विभक्ति लगती है, और 'ऊपर' कहना हो, तो 'पर' का प्रयोग होता है—

१—सन्दूक में कपड़े हैं।
२—कोठरी में चोर घुसा है।
३—पाठशाला में छात्र पढ़ते हैं।
४—घड़े में पानी नहीं है।

और—

१—सन्दूक पर कपड़े मत रखो।
२—छत पर हम गरमी में सोते हैं।
३—उस पाठशाला पर मेरा विश्वास नहीं।
४—घड़े पर मिट्टी जम गई है।

तीसरे वाक्य पर ध्यान देने से पता चलता है कि 'मध्य या भीतर' जब न कहना हो, तो फिर (अधिकरण-मात्र में) प्रायः 'पर' का ही प्रयोग होता है। 'गरमी में' गरमी के दिनों में। मतलब यह हुआ कि गरमी भर, गरमी के आद्य दिवस से लेकर अन्त्य दिवस के भीतर-भीतर।

इस तरह दोनों का स्पष्ट विषय-विभाग है।

'सम्बन्ध' के सम्बन्ध में

हिन्दी में सम्बन्ध प्रकट करने के लिए 'र' तथा 'क' ये दो प्रत्यय हैं। दोनों में हिन्दी अपनी पुंव्यंजक विभक्ति 'आ' (ा) लगा कर सर्वत्र काम

चलाती है। मध्यम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष सर्वनामों में 'र' का प्रयोग होता है—'तुम्हारा-हमारा', 'तेरा-मेरा' आदि। और सब जगह 'क' का चलन है—इसका, उसका, राम का, सीता का; इत्यादि। पुल्लिङ्ग-सूचक प्रत्यय 'ा' है, जो बहुवचन में 'ए' (े) बन जाता है–तुम्हारे कपड़े, हमारे लड़के, मेरे कपड़े, तेरे लड़के, राम के कपड़े, सीता के कपड़े; इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग में यह पुंव्यंजक 'आ' (ा) 'ई' (ी) बन जाता है—राम की धोती, मेरी धोती, हमारी धोती; इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में कोई परिवर्तन नहीं होता—राम की धोतियाँ, मेरी धोतियाँ, हमारी धोतियाँ, सीता की धोतियाँ। बस, इतनी बात। परन्तु हमारे अहिन्दीभाषी बन्धु इसे भी जटिल समझते हैं! समझते क्या हैं, लोगों से वैसा सुन लिया है और फिर वैसा ही कह देते हैं। समझने पर तो सब सरलतम हो जाता है।

कहा यह जाता है कि कहीं 'का', कहीं 'के' और कहीं 'की' यह सब गड़बड़-घोटाला समझ में नहीं आता। उनके समझने के लिए नीचे बहुत सरल नुस्खा दिया जा रहा है—जिसका पता, अभी थोड़े ही दिन हुए, लगा है।

हिन्दी में यह 'र' तथा 'क' की प्रयोग-पद्धति संस्कृत के सम्बन्ध-सूचक तद्धित-प्रत्यय पर चली है। तद्धित-पद्धति बहुत सरल है; श्रवण सुखद भी।

मम पुत्रः, मम फलम्, मम लता

इसकी जगह—

मदीयः पुत्रः, मदीयम् फलम्, मदीया लता

बोलने में कुछ कलात्मक सौन्दर्य है न? 'मदीयानि वस्त्राणि' 'मदीयेषु वस्त्रेषु' 'मदयान् बालकान्' आदि; सब विशेषण की तरह। हिन्दी ने इसी पद्धति पर—

तुम्हारा लड़का, तुम्हारे लड़के, तुम्हारी लड़की
तेरा लड़का, तेरे लड़के, तेरी लड़की

यों सम्बन्ध-सूचन स्वीकार किया। न जाने क्यों, अन्यत्र सर्वत्र 'क' रखा; उसी पद्धति पर—

रामका लड़का, रामके लड़के, रामकी लड़की
सीताका लड़का, सीताके लड़के, सीताकी लड़की

इत्यादि। क्या कठिनाई है? सर्वत्र विशेषण की तरह—

बड़े लड़के पर विश्वास है।
मेरे लड़के पर विश्वास है।

× × ×

कमीने लड़के ने वैसा बर्ताव किया।
तुम्हारे लड़के ने वैसा बर्ताव किया।

× × ×

अच्छी लड़की अच्छा काम करती है।
भलेकी लड़की भला काम करती है।

× × ×

झगड़ेके काम अच्छे नहीं।
छकड़ेके दाम महँगे लगे।

आगे चलकर हिन्दी की विभक्तियों ने विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति अपनाई और 'राम का' 'लड़की के' आदि ढंग से लिखावट चली। परन्तु 'र' ने अपनी चाल नहीं बदली—तेरा, मेरा, तुम्हारा, हमारा यों संश्लिष्ट रूप ही रहे। 'र' का अलग होना असम्भव है; ऐसा घुल-मिल गया है। कोई निकाले, तो 'तू रा' 'मैं रा' तथा 'तुम रा' आदि निकलेगा; जो श्रवण-सुखद नहीं। यदि कोई जिद ही करे, तो फिर वह 'उसे' 'इसे' 'मुझे' 'तुझे' आदि को क्या करेगा? इनकी जगह 'उस को' 'इस को' 'मुझ को' 'तुझ को' आदि विश्लिष्ट भले ही लिख ले; यद्यपि ये श्रवण-मधुर नहीं; पर 'उसे' का विश्लेषण न कर सकेगा। समझ में आता है कि 'उसे' आदि में ब्रजभाषा-प्रसिद्ध 'हि' विभक्ति है—'वाहि न नेकहु हौं समुझायो' 'ताहि तौ भूलि गई सजनी' इत्यादि देखिए। इस 'हि' के 'ह्' को उड़ा कर खड़ी बोली ने 'इ' मात्र विभक्ति के रूप में ले लिया और केवल कुछ सर्वनामों में ही लगाती है, जहाँ 'र' नहीं लगाती।

सो, इस 'र' तथा 'इ' को अलग कर नहीं सकते; इसलिए संश्लिष्ट रूप चलते हैं; 'क' के सब प्रयोग विश्लिष्ट। कोई-कोई 'क' के भी संश्लिष्ट प्रयोग करते हैं—'रामकी बातें सुनीं'। इसमें हमारी कोई विप्रतिपत्ति नहीं; परन्तु 'राम का' यों विश्लिष्ट प्रयोग अधिक व्यवहार्य, सुबोध तथा भ्रम-रहित है। यह सब मैंने अपने ब्रजभाषा-व्याकरण की भूमिका में स्पष्ट किया है। अधिक रुचि रखने वालों को वहीं देखना चाहिए।

संक्षेप यह कि सम्बन्ध-सूचक 'र' अथवा 'क' के प्रयोग में कोई गड़बड़ नहीं है।

इधर कुछ हिन्दी के विद्वानों ने—

'का' की जगह 'को'

चलाना एक जगह शुरू कर दिया है। साधारण सम्बन्ध में तो 'क' के विविध रूप काम आते ही हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया, और नीचे भी देखिये—

१—राम की गौएँ गोविन्द के खेत में चरती हैं।

२—राम के चार लड़के एम० ए० पास कर चुके।

३—सीता के चार वस्त्र यहाँ रखे हैं।

यहाँ राम का गौओं से, चार लड़कों से तथा सीता का चार वस्त्रों से साधारण सम्बन्ध कहा गया है। विधेय कुछ और है।

यदि विधेयता यहाँ हो और स्व-स्वामिभाव या आत्मीयता आदि की विवक्षा हो, तो फिर प्रयोग बदल जाएगा। तब 'क' के स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में या एकवचन-बहुवचन में रूप बदलेंगे नहीं; पुंविभक्ति (ा) एक सामान्य-रूप से रहेगी; वह 'ए' (े) के रूप में बदली जाएगी—

१—**राम के चार गौएँ** हैं, एक भैंस है।

२—**सीता के एक बकरी** है, चार घोड़े हैं।

३—**तुम्हारे भी** तो एक **भैंस है न** ?

४—**सीता के दो लड़के** हुए।

५—**इन स्त्रियों के कोई** है नहीं।

सर्वत्र 'के' है। सम्बन्ध तो है; पर एक विशेषता के साथ। इसीलिए हिन्दी ने प्रयोग में विशेषता पैदा कर दी है। इसी तरह 'र' का प्रयोग होता है। ऊपर 'तुम्हारे' देखिए। 'तेरे, मेरे, सब के राम ही तो हैं।'

इस सुन्दर प्रयोग को गलत समझ कर काशी के कुछ विद्वान् विदक गए हैं और इसकी जगह 'को' तथा 'इ' विभक्ति चला रहे हैं, जो कर्म, कर्ता, सम्प्रदान आदि में लगती है; 'खड़ी बोली' (या राष्ट्रभाषा) में जिससे सम्बन्ध सूचित होता ही नहीं! ये लोग ऊपर के वाक्यों को इस रूप में लिखते हैं—

१—राम को चार गौएँ हैं, एक भैंस है।
२—सीता को एक बकरी है, चार घोड़े हैं।
३—तुम को भी तो एक भैंस है न?
४—सीता को दो लड़के हुए।
५—इन स्त्रियों को कोई है नहीं।

छात्रों को ऐसे सनकी लोगों के ऐसे भ्रष्ट प्रयोगों से सावधान रहना चाहिए, जो पत्र-पत्रिकाओं में तथा पाठ्य-पुस्तकों में भी अभी थोड़े ही दिन से, देखने को मिलने लगे हैं। सावधानी के लिए इतना निर्देश कर दिया गया—'जाने ते छीजहिं कछु पापी।' गलतियों की जानकरी जरूरी। फिर, जब वह गड़बड़ी बड़े लोगों की ओर से फैलाई जा रही हो, तब तो विशेष रूप से सावधानी अपेक्षिक है। अन्यथा, ऐसे विप्लव भाषा-व्यवस्था को चौपट कर सकते हैं।

'को' का प्रयोग वस्तुत: मानसिक किंवा शारीरिक निसर्ग-उद्रेकों के स्थलों में होता है; जैसे :—

१—राम को क्रोध आ गया।
२—सीता को भूख लगी है।
३—लड़कों को प्यास लगी है।
४—उसे घृणा हो गई, उस काम से।
५—इसे सन्तोष हो गया।

यों 'को' तथा 'इ' का प्रयोग स्पष्ट है। 'उसे चार लड़के हुए' या 'उनको चार पुत्र हुए' गलत प्रयोग हैं। हाँ, 'उसको चार फल प्राप्त हुए' ठीक। यहाँ 'को' गलत नहीं है; क्योंकि 'कर्त्ता' कारक में 'को' विभक्ति लगी है। 'प्राप्त होना' क्रिया है। 'लड़के' कर्म है। क्रिया कर्म-वाच्य यहाँ है, कर्म के अनुसार चलेगी—

१—उनको चार लड़के प्राप्त हुए।
२—उनको चार लड़कियाँ प्राप्त हुईं।
३—उन सब छात्राओं को उच्च पद प्राप्त हुआ।
४—मुझे अपने परिश्रम के फल में झंझटें, गालियाँ और फटकारें मिलीं।

'को' विभक्ति से 'का' का काम लेना एक विप्लव पैदा करना है। [मैंने ऊपर ('का' का) जो पद लिखा है, उसे संश्लिष्टतावादी कैसे लिखेंगे ? 'काका' लिखेंगे, या 'का'—का ? 'काका' का अर्थ क्या निकलेगा ? " 'का'— का" में संश्लेष कहाँ रहा ?]

सम्बन्ध 'सम्बन्धी' के अधीन

ऊपर जो कुछ कहा गया, उससे स्पष्ट हो गया कि सम्बन्ध-पद (अगले) 'सम्बन्धी' पद के अनुसार रहता है—

१—बालक **का कुर्ता**

२—बालक **के कुर्ते**

३—बालक **की धोती**

परन्तु 'सम्बन्धी' यदि 'द्वन्द्व' लेकर आएगा, तो फिर द्वन्द्व मच जाएगा। 'राम के पुत्र-पुत्रियाँ' करें ? सामने पहले 'पुत्र' ही है न ? परन्तु वैसा करने पर 'पुत्रियाँ' झनझना उठेंगी। कुछ अच्छा न लगेगा। ऐसे स्थलों में समास किए बिना ही—'राम के पुत्र और पुत्रियाँ' लिखना अधिक अच्छा रहेगा। 'के' विश्लिष्ट है, 'राम' के साथ बँधा नहीं है। उसका काम पुत्रों के साथ सम्बन्ध-ज्ञान कराने के बाद तुरन्त ही 'की' रूप बनाकर, पुत्रियों का भी, राम से स्वतन्त्र और पुत्रों के समान ही बराबरी से सम्बन्ध सूचित करना है। ऐसी झंझटों को दूर करने के लिए 'द्वन्द्व' से बच जाना चाहिए। समानलिङ्ग शब्दों के द्वन्द्व में तो कोई बात ही नहीं—

१—राम के वस्त्राभूषण

२—राम की बहन-बेटियाँ

तत्पुरुष समास में अन्तिम पद प्रधान होता है—उसी का अन्वय क्रिया के साथ होता है। 'दशरथ-पुत्र ने रावण को मारा' तो 'पुत्र' का 'मारने' से सम्बन्ध है। 'राजपुरुष आया' कहें तो वह 'पुरुष' ही आया समझा जाएगा ; 'राजा' का सम्बन्ध 'आने' से नहीं है—राजा नहीं आया है। जो क्रिया के साथ अन्वित हो, उसी को सब जगह सब पूछते हैं। फलतः सम्बन्ध-सूचन भी 'तत्पुरुष' में अन्तिम पद के अनुसार होता है—

१—मेरे लतापुष्पों ने कमरा गमका दिया।
२—तुम्हारी ज्ञानवृद्धि तुम्हें सुख देगी।
३—कन्या का सीतानुसरण श्रेयस्कर है।
४—राम की बालक्रीडाएँ बड़ी मनोहर हैं।

इतनी बात स्पष्ट है।

['तुम्हारा पुत्री-गृह मैं देखने गया' ऐसे प्रयोग भले नहीं लगते। 'तुम्हारी पुत्री का घर देखने मैं गया' ठीक है।]

ख़ैर, वह सब तो देखा; अब एक मजेदार बात और सुनिए। तत्पुरुष-समास में संज्ञा का संज्ञा के साथ समास होता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है। 'अनुसरण' एक धातुज संज्ञा है, जो हिन्दी में 'भाववाचक' श्रेणी में रखी गई है। 'सीता का अनुसरण'—'सीतानुसरण' यों षष्ठी-तत्पुरुष समास। 'अनुसरण को अच्छा समझता हूँ', 'बड़े लोगों का अनुसरण करने से यश मिलता है', 'दुर्जनों के अनुसरण में विपत्ति के बीज भरे रहते हैं'—इस तरह 'अनुसरण' के विविध प्रयोग संज्ञा के रूप में होते हैं।

जिस मा का पुत्र 'अनुसरण' है, उसी का 'अनुसार' भी है। एक पुत्र एक काम करता है, दूसरा कुछ और करता है। यह तो नियम है ही नहीं कि एक मा-बाप की सन्तान एक ही काम करे! कोई अध्यापक, कोई इंजीनियर! सो, 'अनुसार' संज्ञा का काम नहीं करता—'कन्या सीता का अनुसार करती है', या 'सीतानुसार करती है' इस तरह के प्रयोग होते नहीं हैं। हिन्दी में 'अनुसार' का प्रयोग एक अव्यय की तरह होता है – 'यथा' के अर्थ में—

यथाशक्ति—शक्ति के अनुसार।
यथाबुद्धि—बुद्धि के अनुसार।

सो, अव्यय का काम करने से स्त्रीलिङ्ग-पुलिङ्ग होने का सवाल ही नहीं। इसीलिए इसे तत्पुरुष-समास में यहां न समझना चाहिए—

इच्छानुसार, आज्ञानुसार, प्रज्ञानुसार

यहाँ 'यथा' के अर्थ में 'अनुसार' है—अव्ययीभाव समास। संस्कृत में 'यथा' का पूर्व प्रयोग होता है, हिन्दी में 'अनुसार' का पर-प्रयोग। किन्तु हिन्दी के कुछ विद्वानों ने समझा कि जैसे 'लता-पुष्प' तत्पुरुष, उसी तरह 'इच्छानुसार' तत्पुरुष! तब उन्होंने घोषणा की—

'अपनी इच्छानुसार' गलत है ।

सही लिखो—

अपने इच्छानुसार
आपके आज्ञानुसार
अपने प्रज्ञानुसार ।

बड़े जोर से डंका बजाया गया, सब ने सुना ! फलतः कुछ लोग उसी लीक पर चल निकले हैं ; भटक कर कभी ठीक राह पर आ जाएँगे ; जाएँगे कहाँ ? पर इस समय तो बे-लगाम हैं ।

सो, इस अव्ययीभाव समास को 'तत्पुरुष' न समझ लेना ।

बस, 'सम्बन्ध' के सम्बन्ध में इतना ही कहना था । इस प्रकार हिन्दी-विभक्तियों के बारे में संक्षेप में कुछ लिखा गया ।

'आ' को 'ए'

हाँ, एक बात अभी तुरन्त और सामने आ गई । आज ता० २६ अक्टूबर (१९५१) की 'अमृतपत्रिका' में एक समाचार का शीर्षक है—'अग्रवाल कालेज का समारोह में महत्त्वपूर्ण भाषण' । इसी तरह 'सभापति का चुनाव में साधारण जनता का आकर्षण नहीं' ऐसे भद्दे प्रयोग देखने को मिलने लगे हैं, जो 'अधिक सावधानी' बरतने का उपदेश देने वाली पुस्तकों के परिणाम हैं ! शुद्ध प्रयोग हैं—

१—'अग्रवाल कालेज के समारोह में'
२—'सभापति के चुनाव में'

परन्तु वैसे भद्दे प्रयोग क्यों हो जाते हैं, या क्यों किए जाते हैं, समझ पाए कि नहीं ? 'सावधान' लोग ख्याल करते हैं कि 'का' तो बहुवचन में 'के' बनता है–१–राम के लड़के २–रमा के कपड़े ; इत्यादि । एक वचन में तो 'का' ही रहता है । सो, उन्होंने 'समारोह' तथा 'चुनाव' के एकत्व का ध्यान करके 'का' रखने की बुद्धिमानी की है ! यह भ्रम अधकचरे ज्ञान की परिष्कार-पुस्तकों का फल है !

तत्त्व की बात यह है कि हिन्दी की पुंविभक्ति जहाँ लगी होती है, वहाँ बहुवचन में साधारणतः 'आ' का 'ए' हो जाता है, लड़का–लड़के इत्यादि । क्रियाओं में भी गया–गए, जाएगा–जाएँगे ; हुआ–हुए ; इत्यादि । 'सम्बन्ध'-

सूचक 'र' तथा 'क' में भी यह पुंविभक्ति है; इसीलिए बहुवचन में—तेरे कपड़े–राम के लड़के—यों 'आ' का 'ए' हो जाता है। यह एक बात। दूसरी बात यह कि कोई (ने, से, के, में आदि) विभक्ति यदि परे हो, तो भी वह 'आ' 'ए' के रूप में हो जाता है; एक वचन में भी—

१—लड़के से कहो।
२—लड़के को मैंने देखा।
३—लड़के पर मेरा विश्वास है।
४—लड़के पर बहुत मार पड़ी।

ऐसी जगह 'लड़का को' लिखना-बोलना अपना अज्ञान प्रकट करना होगा। इसका विवरण 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' पढ़ने से प्राप्त होगा।

कहा गया कि 'र' तथा 'क' में भी वही पुंविभक्ति लगी है, जो बहुवचन में उसी तरह 'ए' के रूप में आ जाती है—राम के कपड़े–रमा के लड़के। 'र' तथा 'क' के अनन्तर 'ने' 'को' 'से' आदि विभक्तियों के आने की सम्भावना ही नहीं। परन्तु इस 'र' तथा 'क' के द्वारा जिस अगले पद से सम्बन्ध सूचित होता है, उसके आगे यदि उपर्युक्त विभक्तियों में से कोई आ जाए, तो फिर 'सम्बन्ध' का 'आ' तुरन्त 'ए' बन जाता है—

१—राम के लड़के से कह दो।
२—रमा के कपड़े पर मैल नहीं है।
३—तुम्हारे एक झटके से वह गिर पड़ा।
४—गड़रिए के कम्बल से धूल गिरी।

बहुवचन में तो 'ए' होता ही है—

१—राम के कपड़ों से
२ – रमा के कपड़ों से
३—तुम्हारे झटकों से
४—गड़रिए के कम्बलों से

स्त्रीलिङ्ग सम्बन्धी हो, तो फिर 'ई' को स्थान है ही—

१—राम की धोती, या धोतियाँ
२—रमा की साड़ी, या साड़ियाँ

सो, स्पष्ट है कि 'सम्बन्धी' पद के आगे यदि 'को' 'ने' आदि कोई विभक्ति है, तो फिर पुंविभक्ति के 'आ' का (पुल्लिङ्ग में) 'ए' हो जाता है। इसलिए 'कालेज का समारोह में' इत्यादि लिखना एकदम गलत है। इसी तरह उनके समझौते से प्रसन्न हूँ।' 'समझौते से' चाहिए।

इसी तरह के भ्रम से लोग 'ठेकेदार' को 'ठीकादार' लिख कर अपना अज्ञान प्रकट करते हैं! 'ठेका' एक चीज है और 'ठीक' दूसरी चीज। 'ठीक' कभी 'ठीका' नहीं बन सकता। 'टीका' अलग चीज है; एक 'टेका' भी है। परन्तु 'ठीका' क्या है? कभी किसी हिन्दीभाषी के मुँह से सुना? सो, 'ठीका' नहीं, 'ठेका' दिया-लिया जाता है और उसका वैसी प्रक्रिया में रूप एकारान्त हो जाता है—'ठेकेदार', 'तालुकेदार', आदि।

समास में लोग 'बड़ों-बड़ों से भी गलतियाँ हो जाती हैं' ऐसा भ्रष्ट लिख देते हैं। अपनी समझ से तो 'परिष्कृत' रूप लिखते हैं! वस्तुतः समास होने पर बीच में कोई ('का' 'से' आदि) विभक्ति रह नहीं सकती। यह 'ओं' (ों) एक 'विकरण' है, जो हिन्दी में प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में बहुत्व प्रकट करने के लिए आता है—

लड़कों से, लड़कियों से, प्रभुओं से, ऋषियों से

और—

लड़कों ने, लड़कियों ने, प्रभुओं ने, ऋषियों ने; इत्यादि। सर्वत्र 'ओं' (ों) बीच में आ जाता है और सामञ्जस्य पैदा करता है। परन्तु जब आगे कोई ('को' 'ने' 'में' आदि) विभक्ति न हो, तो फिर यह विकरण कभी भी बीच में आता नहीं है—

१—मैंने सब लड़के देखे।
२—गए वे लड़के।
३—मा ने सब लड़कियाँ देखीं।
४—सब नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं।

यहाँ बहुवचनों में कहीं भी वह विकरण नहीं। 'बड़ा' का समास दूसरे 'बड़ा' शब्द से हुआ, तो प्रथम शब्द की पुंविभक्ति 'ए' के रूप में आ गई—'बड़े-बड़े' दूसरे 'बड़े' शब्द में 'ए' है बहुत्व-सूचन के लिए; पर प्रथम में वैसा स्वभावतः

है ; क्योंकि 'पुंविभक्ति' प्रायः सदा 'ए' बन जाती है, जबकि उसके सामने कोई विभक्ति या अन्य शब्द हो। एकवचन में भी—

१—लड़के ने मा से कहा।

२—सोंटे से उसने बदमाश को ठीक किया।

और—

बच्चेवाली, इक्केवाला, पत्तेदार, डंडेबाज, बेचनेवाला ; इत्यादि। इसी तरह—

छोटे-छोटे, बड़े-बड़े, छोटे-बड़े, इत्यादि समास हैं।

बहुवचन बनाने में अन्तिम शब्द को ही 'विकरण' (ों) प्राप्त होगा, यदि परे कोई विभक्ति हो—

'बड़े-बड़ों को देख लिया'

'बड़ों-बड़ों को देख लिया' न होगा। हाँ, समास न करके 'बड़ों बड़ों को देख लिया' और बड़ों बड़ों से बाजी मार ले गया' यों पृथक्-पृथक् लिखा जाए, तब कोई बात नहीं* ; क्योंकि विश्लिष्ट 'को' तथा 'से' आदि विभक्तियाँ अलग-अलग दोनों पदों का काम चला देंगी। यदि इन विभक्तियों को पदों से सटा कर लिखा जाए, तब फिर यह सुविधा न रहेगी। अन्तिम पद के साथ उसे बाँध दिया, तब क्या हो।

'सम्बन्ध' तथा 'समास' की इन बातों की चर्चा से एक और चीज ध्यान में आ गई। उसे भी समझ लीजिए। ऊपर 'अनुसार' का उल्लेख हुआ है। यदि इसे समास में लाना हो, तो वाक्य के अन्य पदों का भी ध्यान रखना चाहिए—

'स्थिति आवश्यकता और योग्यतानुसार कुछ नए आदमी रखे जाएँगे।'

इस वाक्य में 'अनुसार' को 'योग्यता' से बाँध दिया है, जबकि उसका सम्बन्ध 'स्थिति' तथा 'आवश्यकता' से भी अभिप्रेत है। यह ठीक नहीं। 'अनुसार'

* ऐसी जगह श्रुति-सौष्ठव नहीं रहता, चाहे 'बड़ों बड़ों को' यों असमस्त ही क्यों न लिखें। शुद्ध है, पर सुखद नहीं। इसीलिए 'बड़े-बड़े देख लिए' या 'बड़े-बड़े लोगों को देख लिया' यों समस्त रूप लोग लिखना पसन्द करते हैं। 'बड़े-बड़े लोग गलती कर जाते हैं' या 'बड़े-बड़े लोगों से गलती हो जाती है' यों प्रवाह जान पड़ता है।

अब खुलकर उन दोनों पदों का काम कर नहीं सकता—यों ही दबे-दबे सहारा देगा। इसलिए, ऐसी जगह समास न करना चाहिए—

'स्थिति आवश्यकता और योग्यता के अनुसार'

यों ठीक होगा। इसी तरह—

'आपकी भावना, शिक्षा और आज्ञापालन मेरे लिए सर्वोपरि कर्तव्य होगा।'

यहाँ 'पालन' को 'आज्ञा' से बाँध दिया गया है, जिससे कि उसका खुला सम्बन्ध 'भावना' और 'शिक्षा' से नहीं रह जाता। बिना समास के ही—

'आपकी भावना, शिक्षा और आज्ञा का पालन मेरे लिए सर्वोपरि कर्तव्य होगा।'

इस तरह लिखना चाहिए। इसी तरह अन्यत्र समास-विधि में समझिए। कुछ पृथक् इस सम्बन्ध में लिखा भी जाएगा।

'सम्बन्ध' के बारे में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि—

'अपने आज्ञा-पालन से सब खुश होते हैं'

इस तरह 'पालन' पुल्लिङ्ग संज्ञा के साथ 'आज्ञा' का तत्पुरुष समास हो जाने से 'सम्बन्ध' पुल्लिङ्ग रहेगा ही—'अपने'। परन्तु 'अपने आज्ञापालन' सुनने में कुछ अटपटा सा लगता है। इसलिए, समास के बिना ही—

'अपनी आज्ञा का पालन होने से सब खुश होते हैं' यों अधिक अच्छा रहेगा। यदि समास ही करना है, तो फिर 'अपने आदेश-पालन से' यों 'आज्ञा' की जगह 'आदेश अच्छा रहेगा। लेकिन 'पालन' शब्द जैसा 'आज्ञा' में अच्छा लगता है, वैसा 'आदेश' में नहीं। इसलिए कि वह 'आज्ञा' के ही साथ चिरश्रुत है; और कोई बात नहीं।

'आज्ञा' का रूप सामने आने से यह कहने को मन होता है कि इस शब्द का बहुत गलत प्रयोग हिन्दी में हो रहा है। यद्यपि 'शब्द-चयन' का विषय हम एक स्वतन्त्र अध्याय में लिखेंगे; पर तब तक कदाचित् 'आज्ञा' ध्यान में न रहे! इसलिए इससे निपट लें।

हिन्दी में—

१—पिता की आज्ञा लेकर कहीं जाया करो।

२—देखो, भाई साहब आज्ञा दे देंगे, तो मैं भी काश्मीर घूम आऊँगा।

ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, जो गलत अर्थ में हैं। यहाँ 'अनुज्ञा' या 'अनुमति' चाहिए। 'आज्ञा' तो 'आदेश' का पर्य्याय है।

१—सेनापति ने कूच की आज्ञा दी।

२—अध्यापक ने रविवार के दिन भी आने के लिए छात्रों को आज्ञा दी।

आज्ञा='आर्डर' और अनुज्ञा या अनुमति='परमिशन!' आशा है, इन अंग्रेजी शब्दों से अब भारतीय जन इन भारतीय शब्दों का मतलब समझ गए होंगे।

तद्धित-प्रकरण

हिन्दी ने तद्धित-प्रकरण का कोई बिस्तार नहीं किया है—अतिशय सरलता है, थोड़े-से जरूरी प्रत्यय हैं। एक संज्ञा से दूसरी संज्ञा, विशेषण से संज्ञा या संज्ञा से विशेषण बनाने वाली प्रक्रिया को 'तद्धित' कहते हैं।

संस्कृत में अपत्यार्थक तद्धित-प्रत्यय है; हिन्दी ने इसके लिए अपनी कोई स्वतंत्र व्यवस्था नहीं की है। आवश्यकतानुसार संस्कृत से ही वैसे बने-बनाए शब्द ले लिए जाते हैं—'दाशरथि' राम और 'जामदग्न्य' राम।

हिन्दी ने ऐसे प्रत्ययों की स्वतन्त्र व्यवस्था नहीं की; यह अच्छा ही हुआ! एक तो यहाँ पद-प्रयोग में वैसे ही लोग गड़बड़ी करते हैं; फिर न जाने क्या होता! वैसे प्रत्ययों के बिना काम कुछ रुका भी नहीं रहता। उलटे, कहीं-कहीं वे (प्रत्यय) अर्थ-बल को घटा भी देते हैं—

'दाशरथि राम असत्य नहीं बोल सकता'

यहाँ तद्धित-प्रत्यय ने जोर एकदम घटा दिया है! यदि कहा जाता—

'राम असत्य नहीं बोल सकता, वह दशरथ का पुत्र है' तो अधिक जोर रहता। इसी तरह तद्धित—

'हमें अपने पारिवारिक जनों की चिन्ता पहले करनी है' यहाँ तद्धितान्त 'पारिवारिक' से वैसी आत्मीयता सूचित नहीं होती, जैसी :—

'हमें अपने परिवार के लोगों की चिन्ता पहले करनी है' यों साधारण

पद-प्रयोग से। परन्तु जहाँ ऐसी बात न हो, बराबर संस्कृत से बने-बनाए तद्धितान्त शब्द हिन्दी लेती है और अपनी सम्पत्ति समझ कर लेती है। यदि अपने पुरखे कोई बढ़िया चीज बना गए हैं, तो फिर उसकी जगह नई चीज क्यों बनाई जाए ? यदि सुख-सुविधा में कमी हो, तो फिर कुछ परिवर्तन करना या नई चीज तैयार करना और बात है। हिन्दी ने 'ज्वालापुर' आदि अकारान्त संस्कृत शब्दों के बने हुए 'ज्वालापुरीय' आदि विशेषणों में कुछ परिवर्तन कर दिया है—'य' घिस-घिसा कर दूर हो गया है—ज्वालापुरी, कानपुरी, बसन्ती, आदि रूप चलते हैं। इसी तरह देशी, विदेशी, शहरी आदि। परन्तु गम्भीरता में 'केन्द्रीय', 'प्रान्तीय' तथा 'राजकीय' आदि रूप संस्कृत (तत्सम) ही हैं। यह सब तो स्पष्ट है। परन्तु भाववाचक तद्धित-प्रत्ययों में कुछ लोग बड़ा घोटाला पैदा कर देते हैं ! हिन्दी में अपने भाववाचक तद्धित प्रत्यय बहुत सरल हैं—गहराई, भलाई, बुराई आदि में 'आई' तथा 'पागलपन' 'गँवारपन' 'उज्जड्डपन' आदि में 'पन' और 'बुढ़ापा' आदि में 'पा' स्पष्ट है। हिन्दी अपने ये प्रत्यय संस्कृत के तत्सम शब्दों में प्रायः नहीं लगाती। वहाँ वहीं के 'ता' 'त्व' अथवा 'य' (ष्यञ्) आदि चलते हैं; यानी इन प्रत्ययों से बने-बनाए शब्द हिन्दी ले लेती है 'मूर्ख' संस्कृत शब्द लेकर उसमें अपना कोई प्रत्यय लगाना ठीक नहीं समझा गया। दूसरे की माँगी हुई चीज में अपनी ओर से कुछ जोड़ देना ठीक नहीं। इसीलिए मूर्खता, महत्त्व, गाम्भीर्य आदि तत्सम रूप ही यहाँ चलते हैं। कुछ लोग 'सौजन्यता' 'पाण्डित्यता' और 'चातुर्य्यता' आदि लिखने लगे थे !—अब से कोई बारह-चौदह वर्ष पहले यह भी एक गन्दी हवा चली थी। बड़ी-बड़ी परीक्षाओं में चलने वाली पुस्तकों में भी ऐसे शब्द धड़ल्ले से चलने लगे, तब मुझसे देखा न गया। मैंने 'लेखन-कला' पुस्तक लिखी और उसके द्वारा इस प्रवृत्ति को तथा ऐसी ही शतशः अन्य गलत प्रवृत्तियों को एकदम रोक दिया। प्रवाह बदल गया।

परन्तु इसके बाद फिर एक गड़बड़ हुई ! मैंने लिखा था कि 'सौजन्यता' आदि गलत हैं; क्योंकि 'सुजन' से जब 'सौजन्य' भाववाचक संज्ञा बन गई, तब फिर उसके बाद भी 'ता' लगाना ऐसा है, जैसे एक टोपी पर दूसरी टोपी लगाना ! एक बड़े परिष्कारक ने अपनी नई पुस्तक, ('लेखन-कला' प्रकाशित होने के लगभग दस वर्ष बाद) लिखी छपाई, जिसमें 'मान्यता' को भी गलत

बता दिया ; जैसे 'सौजन्यता' गलत, उसी तरह 'मान्यता' ! उभयत्र 'न्य' है न ! जब 'अच्छी हिन्दी का नमूना' इस नए कूड़े-कचरे को साफ करने के लिए निकला, बताया गया कि 'मान्य' भाववाचक संज्ञा नहीं, कृदन्त विशेषरण है और इससे 'मान्यता' बनाना बिलकुल ठीक है ; तब परिष्कारक बन्धुओं ने एक 'प्रामाणिक' शब्द-कोश निकाला और उसमें 'सौजन्य' तथा 'गाम्भीर्य' आदि शब्दों का ही बहिष्कार कर दिया ! झगड़े की जड़ ही काट दी गई ! कौन इस झमेले में पड़े कि 'सौजन्यता' और 'मान्यता' में क्या अन्तर है ! कोश की भूमिका में लिख भी दिया गया कि इसमें हमने 'चतुरता' आदि शब्द ही रखे हैं ; 'चातुर्य्य' आदि नहीं । परन्तु छात्रों को साहित्य में 'चातुर्य्य' आदि शब्द बहुत अधिक मिलेंगे ; तब वे इस 'प्रामाणिक' शब्द-कोष में उनका परिचय अवश्य ढूँढ़ेंगे ! न पाकर वैसे शब्दों को ही गलत समझेंगे ; या प्रयोगार्ह न समझेंगे । तब वे कोशानुसार सर्वत्र 'ता' चलाएँगे—

पण्डितता, पतितता, पतिव्रताता

आदि । क्या आपको ऐसे शब्द अच्छे नहीं लगते ? कान बन्द कर लीजिए ; यदि उस प्रामाणिक-कोश का तथा व्याकरण का आदर करना है । क्योंकि किसी भी व्याकरण में यह नहीं लिखा है कि 'पण्डित' आदि शब्दों में 'ता' भाववाचक प्रत्यय नहीं लगता । जबकि कानून मना नहीं करता है, तो हम यदि बेसन की जगह मैदा की कढ़ी बनाएँ, या कढ़ी की तरह खीर में भी नमक छोड़ कर खाएँ-खिलाएँ, तो तुम उसे बेमजे कहने का कानूनी हक नहीं रखते ! यह 'प्रामाणिक' कोश की ओर से वकालत !

परन्तु मैं छात्रों को चुपचाप एक सलाह बताता हूँ । अच्छी हिन्दी लिखना है, तो वैसी परिष्कार-पुस्तकों से तथा वैसे 'प्रामाणिक' कोशों से कोसों दूर रहिए और भाषा की प्रकृति पर ध्यान दीजिए ।

'चतुर' शब्द से 'चतुराई' और 'चतुरता' के साथ-साथ यथा-स्थान 'चातुर्य' भी चलता है ।

१–'**चतुराई चराई** न आवत काम है' ।

२–उनकी **भावुकता और चतुरता** सबने देख ली ।

३–तिलक का असाधारण **पाण्डित्य** तथा राजनैतिक **चातुर्य** अन्यत्र दिखाई नहीं दिया ।

'पाण्डित्य' के साथ 'चातुर्य' ही अच्छा रहेगा, 'चतुरता' नहीं। और 'चतुरता' के जोड़ में 'पण्डितता' तो बहुत ही भद्दा हो जाएगा।

इसका कारण वही है—किसी वर्गीय वर्ण के अनन्तर उसी वर्ग का वही वर्ण बैठ जाए, तो अच्छा नहीं लगता। 'त' के अनन्तर 'ता' इसीलिए भद्दा लगता है और इसीलिए पण्डितता, पतितता, पतिव्रतताता आदि की जगह पाण्डित्य, पातित्य तथा पातिव्रत्य आदि का प्रयोग होता है—कहीं बेसन, कहीं मैदा। परन्तु यदि कोई सरकार हलवाइयों की सुविधा के लिए यह दुविधा की चीज हटाकर बड़े-बड़े गोदाम बेसन के खुलवा दे और कह दे कि "बेसन के लड्डू जब बनाते ही हो, तो फिर गुलाब-जामुन तथा बालूसाई आदि के लिए मैदा-वैदा की झंझट क्यों करते हो ? कला में एकरूपता लाओ—सर्वत्र बेसन चलाओ" तो क्या होगा ? परन्तु सरकार तो सरकार ! उसका हुक्म बहुत-कुछ तो चल ही जाएगा ! ऐसा ही आदेश हिन्दी में परिष्कारकों का तथा कोशकारों का चल रहा है ! संक्षेप से इतना कह दिया, सावधान रहने के लिए।

सो, हिन्दी में अपने भाव-वाचक प्रत्यय तो चलते ही हैं ; संस्कृत के 'ता', 'त्व' तथा 'य' प्रत्यय से युक्त तत्सम भाववाचक संज्ञाओं का भी पूरा चलन है। प्रयोग में देखिए, कहाँ क्या अच्छा लगता है और क्या भद्दा। 'चतुर' जैसे कुछ संस्कृत (तत्सम) शब्दों से भी हिन्दी 'आई' प्रत्यय हो जाता है। 'पण्डित' से भी—'पण्डिताई'। परन्तु 'पण्डिताई' की रूढ़ि प्रायः पौरोहित्य-अर्थ में हो गई है ; इसलिए 'पाण्डित्य' का ही अधिक चलन है। 'पण्डितत्व' भी अच्छा नहीं लगता ; उसी कारण से। 'चतुरता' आदि की जगह 'चतुरत्व' आदि भी प्रचलित नहीं हैं। 'महत्ता' आदि में 'अत्ता' कर्ण-कटु मालूम देता है। उसकी जगह 'महत्त्व' अच्छा। 'विद्वत्ता' की जगह 'वैदुष्य' हिन्दी जनता के लिए अपरिचित-सा लगेगा।—'विद्वत्त्व' तो एकदम अटपटा जँचेगा—'द्वत्त्व' की कर्ण-कटुता स्पष्ट है। सर्वत्र कान काम देंगे ; उनसे काम लीजिए।

यहाँ मैं 'खड़ी बोली' की चर्चा कर रहा हूँ, जो राष्ट्रभाषा के रूप में चल रही है। अवधी तथा ब्रजभाषा आदि में मार्ग-भेद कुछ है ही। ब्रजभाषा-काव्य में कहीं-कहीं 'मूरखताई' जैसे भाववाचक शब्द भी देखने में आते हैं—'कासों

कहीं निज मूरखताई'। सो, यह क्वाचित्क बात है। सर्वत्र वहाँ भी ऐसे प्रयोग नहीं हैं। 'मूरख' से 'मूरखपन' बन सकता है; पर वहाँ 'मूरखताई' ही बैठ गया! कहीं-कहीं कविता में महाकवि कालिदास जैसे सरस्वती-पुत्रों ने भी 'त्रियम्बक' जैसे प्रयोग कर दिए हैं। परन्तु उनके इस तरह के प्रयोगों के अनुसार कोई भी संस्कृत का पण्डित या छात्र 'त्रियम्बकस्य चरणौ नमामि' नहीं लिखता-बोलता। सर्वत्र 'त्र्यम्बक' चलता है।

सो, ब्रजभाषा की प्रकृति कुछ भिन्न है। उसकी बात यहाँ न लीजिए। और 'खड़ी-बोली' का भी कोई महाकवि यदि 'तेरी मूर्खताई से खिन्न हो' कहीं लिख दे, तो उसकी उपेक्षा कर दीजिए और कह दीजिए कि मेरी 'ताई' मूर्ख नहीं है—कवि जी!

समास-प्रकरण

समास-पद्धति भी हिन्दी की बहुत सीधी-सादी है। वे ही सब समास हैं, जो संस्कृत में हैं परन्तु हिन्दी ठेठ अपने या तद्भव शब्दों में समास बहुत कम पसन्द करती है। कविता में अवश्य ही—'**भूरि-भाग** दसरथ सम नाहीं' आदि समास-दर्शन तद्भव शब्दों में देखा जाता है। 'भूरिभाग' (बहुव्रीहि) में उत्तर पद तद्भव है ही। 'पाप-परायन ताप-भरे परताप-समान न आन कही हैं' में भी यही बात है। इसी तरह छोटे-छोटे समास काम आते हैं। यानी, या तो एकदम समास का अभाव और या फिर छोटे-छोटे समास। प्रसादगुण-पूर्ण इबारत के लिए यही विधान भी है—

'अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा'

समास या तो न हों, या फिर बहुत कम और छोटे-छोटे। जो अच्छी भाषा बनाने के लिए उपदेश है, उसी के अनुसार सम्पूर्ण हिन्दी भाषा का गठन है। यह कितनी बड़ी बात!

अच्छा, तो अच्छी भाषा के लिए समास का कम होना क्यों एक शर्त है? इस पर सोचना है। एक तो यह है कि ऐसी (समास-रहित या अल्प-समास) भाषा अत्यन्त सुबोध होती है। दूसरे, वाक्य में यथास्थान पर्याप्त प्रभाव पड़ता है—शब्द-विशेष पर यथेष्ट जोर दिया जा सकता है।

समास में शब्द बँध जाता है। बन्धन में पड़ा हुआ क्या जोर रखेगा ? उदाहरण के लिए—

'सुग्रीव, राम का बाण कैसी शक्ति रखता है, तुम देख चुके हो। समझ सकते हो कि कर्तव्य-भ्रष्ट को क्या दण्ड मिल सकता है।'

यहाँ 'राम का बाण' देखिए। यह राम का बाण है, समझे ! 'राम' पर जोर है। इसे यदि 'रामबाण' कर दें, तो वह बात न रहेगी। 'राम का दूत हूँ, समझ इतना ही लो।' 'रामदूत हूँ' कर दें, तो जोर न रहेगा—'राम' दब जायगा।

हिन्दी के अपने शब्दों में तो समास-जैसी बात ही नहीं दिखाई देती—'पुत्र-शिक्षा' की तरह 'लड़का-सीख' या 'जल-माधुर्य' की जगह 'पानी-मिठास' प्रचलित नहीं हैं। कविता में अवश्य 'पानी-मिठास' कहीं खप जाएगा। तद्धित की ही तरह तत्सम शब्दों के 'समस्त' रूप भी संस्कृत से ही हिन्दी लेती है। परन्तु कुछ तद्भव-तत्सम शब्दों के समास भी देखने में आते हैं—'अछूतोद्धार' आदि। कभी कहीं विदेशी भाषाओं के किसी पचे हुए शब्द के साथ (संस्कृत) तत्सम शब्द का समास देखने में आता है—'जिलाधीश'। परन्तु इसे प्रवृत्ति का रूप न देना चाहिए। 'जिलाधीश' की नक़ल पर 'तहसीलाशीध' न चलेगा, न 'तहसीलेश्वर' ही। वैसा करने से भाषा का नैसर्गिक रूप बिगड़ता है। छोटे बच्चे के सुन्दर गौर मुख-मण्डल पर—मस्तक पर कहीं—मा काजल का डिठौना लगा देती है, तो उससे मुख की शोभा और बढ़ जाती है। परन्तु इसे शोभा-वर्द्धक साधन समझ कर कोई फूहड़ मा अपने बच्चों के सुन्दर मुख पर इधर-उधर बहुत सी लकीरें काजल की खींच दे, तो कैसा लगेगा ?

कभी-कभी किसी विदेशी शब्द के साथ हिन्दी अपने (संस्कृत) तत्सम शब्दों का समास स्वीकार करके भी 'सन्धि' नहीं करती—'कांग्रेस-अङ्क' 'कांग्रेस-अध्यक्ष' 'कम्युनिष्ट-आन्दोलन' आदि ! इन समस्त पदों में सन्धि ठीक न रहेगी ; इसीलिए—'कांग्रेसाध्यक्ष' आदि पद बेढँगे जान पड़ते हैं। बीच में 'योजक' (—) दे देने से ठीक हो जाता है। हिन्दी में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता का विधान नहीं है।—'जिलाधीश' में हो भी गई है। कभी-कभी सन्धि-राहित्य का सूचन अपेक्षित न होने पर भी योजक अच्छा लगता है—'अन्तर-राष्ट्रीय'। 'योजक' दे देने से आँखों को आराम मिलता है ; 'ररा' का

एक साथ आ जाना कुछ आन्तर्य प्राप्त कर लेता है ; किंचित् विराम मिल जाता है । मेरा 'अन्तर'-प्रतिपादन प्रचलित होने पर पत्र-पत्रिकाओं में 'अन्तरराष्ट्रीय' छपने लगा है । 'अन्तर-राष्ट्रीय' अधिक अच्छा ।

छोटे समास भी भ्रामक न होने चाहिए ; प्रायः वे वैसे होते भी नहीं हैं । कभी-कभी कविता में लम्बे समास भी आ जाते हैं और वे अर्थ समझने में कोई बाधा भी नहीं खड़ी करते ; यदि प्रयोग सोच-समझ कर किया गया हो । गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'विनय-पत्रिका' में कहीं-कहीं लम्बे समास दिए है ; परन्तु इस ढँग से गुम्फन हुआ है कि एक के बाद एक स्पष्ट होता जाता है— कोई झंझट नहीं पड़ती । श्री हितहरिवंश आदि के ब्रजभाषा-पद्यों में भी यह चीज देखी गई है—'**ब्रजनवतरुनिकदम्बमुकुटमनि** राधा आजु बनी ।' केवल 'कदम्ब' शब्द समूहार्थक यहाँ ऐसा है, जहाँ साधारण हिन्दी-पाठक ठिठकेगा ; अन्यथा सब साथ-साथ समझता जाएगा । इसी तरह '**श्रीवल्लभनखचन्द्रछटा** बिनु सब जग माँझ अँधेरो' में सब स्पष्ट है ।

परन्तु अनावश्यक लम्बे समासों के चक्कर में पड़ना न चाहिए । न समास का एकदम विरोध ही ठीक है । कहते हैं, कहीं एक छात्रावास बना, तो कुछ लोगों ने कहा कि यह तो 'छात्राओं' के रहने की जगह जान पड़ती है—'छात्रा-वास' । है यह छात्रों के लिए । सो नाम बदलना चाहिए । लोगों ने समझाया कि 'छात्र-आवास' यहाँ पदच्छेद है—'छात्रों के रहने की जगह' अर्थ हुआ । इस पर उन्होंने कहा कि ऐसा नाम रखने की क्या जरूरत कि एक पण्डित उसका मतलब समझाने के लिए रखना पड़े ! सीधा लिख दो—'छात्रों के रहने की जगह' । वैसा ही लिख दिया गया । कह देते थे—'छात्रों के रहने की जगह' से आ रहा हूं । अपनी-अपनी सूझ ! इस तरह समास से बचने की जरूरत नहीं। उचित प्रयोग प्रत्येक वस्तु का सुखकर होता है ।

समास का प्रकरण समाप्त कर रहा था कि आज ता० २७ अक्टूबर (१९५१) की 'अमृत-पत्रिका' सामने आई । इसमें खुर्जा शहर का एक समाचार छपा है—शीर्षक पर दृष्टि गई । इससे एक और बात स्पष्ट करना जरूरी हो गया । कारण, इस तरह के तद्धित-समासों का सांकर्य प्रायः देखने में आता है । सब सामने आ गया । समाचार का शीर्षक है—

'सांस्कृतिक तथा साहित्य-परिषद्'

यह गलत प्रयोग है। 'परिषद्' को समास में 'साहित्य' के साथ बाँध दिया गया है, जिससे उसका हिलना असम्भव है। 'सांस्कृतिक' अकेला पड़ गया है। उसकी बात पूछने वाला कोई नहीं। मतलब तो यह है कि संस्कृति तथा साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली 'परिषद्'। 'संस्कृति तथा साहित्य-सम्बन्धी परिषद्' भी नहीं; वही दोष। मतलब हल होता नहीं है। ऐसा अर्थ उस शीर्षक से अवश्य निकलता है—'साहित्य-परिषद्' जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण की है। अर्थात् 'सांस्कृतिक' विशेषण प्रतीत होता है, 'साहित्य-परिषद्' का; जो अभिप्रेत नहीं। लिखनेवाले का मतलब है—संस्कृति तथा साहित्य की परिषद्—संस्कृति और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली परिषद्। परन्तु शब्द-विन्यास से यह अर्थ दब गया है। 'साहित्य' को अलग करके उसे भी तद्धितान्त कर दो—'सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिषद्।' इसी तरह—

'संस्कृति तथा कला-शिक्षा की व्यवस्था इस विश्वविद्यालय में विशेष रूप से रहेगी।'

इस वाक्य में 'संस्कृति तथा कला-शिक्षा' में वही बात है। पहले उदाहरण में 'सांस्कृतिक' यह तद्धित-रूप अलग पड़ गया है; यहाँ 'संस्कृति' यह साधारण संज्ञा। शेष सब कुछ समान है। 'संस्कृति तथा कला की शिक्षा' ऐसा समास-रहित प्रयोग चाहिए। इसी तरह 'संस्कृति तथा साहित्यिक गोष्ठी' गलत है। 'सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गोष्ठी' चाहिए।

विशेषण और क्रिया-विशेषण

भाषा में विशेषण का बड़ा महत्त्व है। इस तत्त्व के बिना भाषा लँगड़ी हो जाती है। परन्तु अनावश्यक और अनर्थकर विशेषण भाषा के रोग हैं—फोड़े-फुन्सियाँ! विशेषण देने की धुन में कभी-कभी लोग अपनी भाषा बिगाड़ लेते हैं; अर्थ की जगह अनर्थ आ जाता है! "लक्ष्मीपति भगवान् गरीबों की सुध लेंगे" यहाँ भगवान् का विशेषण 'लक्ष्मीपति' बहुत अच्छा है; क्योंकि गरीबों की गरीबी दूर करने में उसका महत्त्व है। इसकी जगह 'वंशीधर' या 'गरुड़ध्वज' जैसा कोई विशेषण दे दें, तो किसी काम का न रहेगा। हाँ,

'वंशीधर भगवान् हमें संगीत-सुधा दें' यहाँ 'वंशीधर' अच्छा । एक प्रसिद्ध प्रार्थना है—'हे प्रभो आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए' । यहाँ 'प्रभु' ('प्रभो' सम्बोधन) का विशेषण 'आनन्ददाता' बिलकुल बेतुका है । माँगते हैं 'ज्ञान' और प्रभु में विशेषता बताते हैं 'आनन्द' देने की ।

'गाइए गनपति जगबन्दन' में 'जगबन्दन' विशेषण ठीक है ; आगे 'शंकर-सुवन' भी अच्छा ! स्वयं वैसे बड़े—'जगवन्दन' और इतने बड़े—महादेव—के पुत्र ! क्या नहीं कर सकते ? 'भवानी के नन्दन' कुछ बहुत अच्छा नहीं रहा ! ऐसा जान पड़ता है कि शंकर के कई स्त्रियाँ हैं; जिनमें से भवानी के पुत्र गणेश जी हैं । 'शंकर के अरु जगदम्बा के नन्दन' होता, तो अच्छा रहता । विशेषता भी आ जाती । जगदम्बा के पुत्र का सम्पूर्ण जगत् बन्धु है—स्वभावतः स्नेह-पात्र है, कुछ माँग सकता है । माता-पिता वैसे राम-भक्त, स्वयं भी राम-नाम के प्रभाव से पूर्ण, तब राम का करुणापूर्ण दृष्टिकोण सुलभ कर देने में कौनसी बड़ी बात ! 'सिद्धि-सदन' भी अच्छा ; परन्तु 'गजवदन' एकदम व्यर्थ विशेषण ! गुलाब के फूलों में कपास का डंठल आ गया—प्रत्युत और भी बुरा ! 'गजवदन' कहने से क्या स्तुति हुई ? जो कुछ अन्त में माँगा गया है, उसमें इस विशेषण से क्या सहायता मिलती है ? स्तुति है, या गणेश का उपहास ? यदि महाराजा रणजीत सिंह से कोई कुछ माँगने जाता और कहता 'हे काने राजा, हमें भी कुछ मिले' तो क्या होता ? क्या मिलता ? इसके आगे फिर 'सुन्दर' विशेषण तो बहुत ही बेढब हो गया—'आप बड़े सुन्दर हैं—हाथी-जैसा आपका मुंह है ।' 'गजवदन' के बाद 'सुन्दर' विशेषण लक्षणा द्वारा 'बदसूरत' बन जाता है ।

खैर, ऐसे विशेषण अनवधानता से आ जाते हैं—गुलाब के फूलों में कांटों की तरह । न होते, तो अच्छा ! परन्तु सर्वथा निर्दोष कौन-सी चीज है ? यहाँ चर्चा तो छात्र-शिक्षण के लिए है । जहाँ तक हो सके, सावधानी रखनी चाहिए ।

विशेषण देने में शब्द-साम्य पर भी ध्यान रखना चाहिए—ऊँट के साथ घोड़े को जोत देना अच्छा नहीं ।

'एक मधुर और बड़ा फल मिला'

यहाँ 'मधुर' के साथ 'बड़ा' उतना भला नहीं लगता—'मीठा और बड़ा' अधिक अच्छा रहेगा । इसी तरह 'मधुर और बड़ी' की जगह 'मीठी और बड़ी'

जमेगा। 'वे केवल विद्वान् ही नहीं, एक महान् समाज-सुधारक भी हैं' यहाँ 'महान्' की जगह 'बड़े' या 'बहुत बड़े' वैसा अच्छा न लगेगा।

बस, इतना ही बहुत है। इस विषय का विस्तार रचना-सम्बन्धी पुस्तक में ठीक है; भाषा सम्बन्धी निबन्ध में उल्लेख भर कर दिया गया। दो-तीन जरूरी बातें बतला कर यह प्रकरण यहीं समाप्त कर दिया जाएगा।

जिस पद पर अधिक जोर देना हो, उसे साधारण क्रम से हटाकर वाक्य के अन्तिम छोर की ओर रख दिया जाता है; यह बात आगे अभी पद-विन्यास प्रकरण में बताई जाएगी। विशेषण के सम्बन्ध में भी वही स्थिति है। यदि विशेषण पर जोर देना है तो उसे विशेष्य के अनन्तर रखिए। 'कुत्सित शासक देश को दुर्गति में डाल देते हैं' एक वाक्य है। 'कुत्सित' का प्रयोग विशेष्य (शासक) से पूर्व है— साधारण क्रम से। परन्तु यदि 'कुत्सित' पर जोर देना हो, उसमें विधेयता हो, तो उसका पर-प्रयोग कर दिया जाता है। इससे उसकी उद्देश्यात्मकता की जगह विधेयात्मकता आ जाती है।' 'ये शासक कुत्सित हैं; इन्होंने देश को दुर्गति में डाल दिया है।' ऐसे 'विधेय'-विशेषणों को ही व्याकरण की पुरानी पुस्तकों में 'पूरक' कहा गया है।

कभी संज्ञा-विशेषण नहीं, क्रिया-विशेषण काम देता है—

'धोती अच्छी बनाओ।'

विधेयता विशेषण में है और उसका सामानाधिकरण्य से अन्वय 'धोती' में है। धोती के साथ-साथ अच्छापन आएगा; यह बात। परन्तु—

'धोती को अच्छा बनाओ'

यहाँ भाव-वाच्य क्रिया का विशेषण 'अच्छा' है—क्रिया-विशेषण। 'धोती' के साथ इसका अब सामानाधिकरण्य नहीं, जैसा कि पहले वाक्य में था। 'अच्छा' शब्द का लगाव या अन्वय 'बनाने' से है—धोती तो बन चुकी है। उस बनी हुई धोती को (सुन्दर रंग या कसीदा आदि से) 'अच्छा' बनाने का विधान है। यों संज्ञा-विशेषण तथा क्रिया-विशेषण का विषय-भेद है। एक जगह कर्मवाच्य अन्यत्र भाववाच्य क्रिया। 'को' काम देता है। उद्देश्य विशेषण, विधेय विशेषण तथा क्रिया विशेषण अपनी-अपनी जगह हैं।

विशेषण अपने विशेष्य से तादात्म्य सम्बन्ध रखता है; इसलिए लिङ्ग-वचन आदि में तदात्मक रहता है—अच्छी धोती, अच्छी धोतियाँ। 'धोतियाँ'

के साथ 'अच्छी' विशेषण भी बहुवचन है। अच्छा कपड़ा, अच्छे कपड़े। परन्तु क्रिया-विशेषण सदा पुल्लिङ्ग-एकवचन रहता है—

१—धोती को अच्छा बनाओ
२—धोतियों को अच्छा बनाओ
३—घर को अच्छा बनाओ
४—लड़कों को अच्छा बनाओ
५—लड़के को अच्छा बनाओ
६—लड़कियों को अच्छा बनाओ
७—इनको अच्छा बनाओ
८—उनको अच्छा बनाओ

सर्वत्र 'अच्छा' रहेगा। कभी-कभी विशेषण देने में ऐसी गड़बड़ हो जाती है कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'अब विश्वास हो गया है कि पाँच वर्ष के भीतर देश में कोई निरक्षर न रहेगा।' क्या सब निरक्षर कत्ल कर दिए जाएँगे? या सब को देश से निकाल दिया जाएगा? मतलब यह नहीं है। जो मतलब है, वह विशेषण से नहीं, भाववाचक संज्ञा से हल होगा—

'अब विश्वास हो गया है कि पाँच वर्ष के भीतर देश में नाम को भी निरक्षरता न रह जाएगी।' मतलब यह कि निरक्षरता नष्ट करनी है, निरक्षरों को नहीं नष्ट करना है। परन्तु विशेषण के रूप में वैसा कहने से अनर्थ हो जाता है; इसलिए कि विशेषण तो अपने विशेष्य से तादात्म्य सम्बन्ध रखता है।

संस्कृत (तत्सम) आकारान्त स्त्रीलिंग विशेषणों को हिन्दी में 'पुंवद्भाव' प्राप्त हो जाता है—'श्रद्धेय माता जी को प्रणाम' 'सुशील लड़कियाँ' इत्यादि। 'श्रद्धेया माता जी' या 'सुशीला बालिका' ठीक नहीं। उपाधि या पदवी के रूप में लगने वाले विशेषणों का प्रयोग अन्त में होता है; जोर देने के लिए—

१—पं० रामदत्त शास्त्री
२—बाबू रामानन्द एम० ए०

'शास्त्री' आदि उपाधियों में स्त्रीत्व आदि से परिवर्तन नहीं किया जाता है—'श्री सुशीला शास्त्री'। 'मंत्रिणी स्वास्थ्य-विभाग' लिखना भी ठीक नहीं। अंग्रेजी में भी 'मिनिस्टर' का स्त्री-लिङ्ग में रूप बदलता नहीं है, न 'मजिस्ट्रेट'

या 'कमिश्नर' आदि का ही। हाँ, 'मास्टर' का 'मिस्ट्रेस' अवश्य होता है। ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजीभाषा-भाषी देशों में भी पहले स्त्री को शासन से अलग ही रखा गया था ; परन्तु बच्चों को शिक्षा देने के महत्वपूर्ण काम में उनकी सेवाएँ अवश्य ली गई थीं। इसीलिए 'मास्टर' का स्त्रीलिंग शब्द 'मिस्ट्रेस' मिलता है। अन्यत्र 'मिनिस्टर' आदि समान चलते हैं।

संस्कृत की तरह हिन्दी में भी 'रत्न' अलंकार' तथा 'भूषण' आदि शब्द सदा एक-रूप रहते हैं—'रामचन्द्र विद्यारत्न' और 'रमा विद्यारत्न'। इसी तरह 'विद्यालंकार' तथा 'विद्याभूषण' आदि भी ! उपाधियों में ही नहीं ; कभी भी इन शब्दों में, पुं-स्त्री के भेद से, भिन्नरूपता नहीं आती। 'सुशीला अवश्य ही कन्याओं में रत्न है' 'राम छात्रों में रत्न है' इत्यादि। इसी तरह 'सुशीला हमारे कुल में अलंकार है, रत्न है' इत्यादि समझिए। 'रत्ना' या 'रत्नी' न होगा, न 'भूषणी' आदि। 'पात्र' शब्द भी ऐसा ही है। 'नाटक में एक पात्र सुशीला भी है' ! 'पात्र' का पात्री लिखना-बोलना मूर्खता है।

इस तरह की बातों में कभी-कभी बड़े-बड़े लोग भी चकर में आ जाते हैं। 'गुरुकुल कांगड़ी' की पदवी है 'अलंकार'। 'श्री रामगोपाल विद्यालंकार' इत्यादि ! संस्कृत और हिन्दी में 'अलंकार' पुल्लिंग है ; परन्तु स्त्री-विशेषण में भी ऐसा ही रहता है। यह बात लोग भूल गए और सोचा कि 'अलंकार' तो पुल्लिंग शब्द है, स्त्री के लिए ठीक न रहेगा ; इसलिए स्त्री-स्नातिकाओं के लिए नई पदवी 'अलङ्कृता' चलाई गई—'सुशीला विद्यालंकृता' ! कैसा रहा ? तब फिर 'रामगोपाल विद्यालंकृत' चाहिए !

खैर, इस तरह चला ही करता है—गड़बड़ और परिष्कार ; परिष्कार और फिर गड़बड़ ! सड़क साफ कर दी गई और तुरन्त फिर वहाँ कूड़ा ! फिर साफ की जाती है। यही क्रम संसार में चलता है। भाषा तथा साहित्य भी संसार में ही हैं।

क्रिया का गठन और अन्वय

'को' विभक्ति की स्पष्टकारिता

ऊपर यथास्थान कई बार कहा गया है और स्पष्ट किया गया है कि हिन्दी-क्रियाओं का गठन वैज्ञानिक है तथा प्रयोग-पद्धति अत्यन्त सरल है। यह भी

बताया गया है कि प्रयोग-पद्धति के तीन भेद हैं—१–कर्तृवाच्य, २–कर्मवाच्य तथा ३–भाववाच्य। भाववाच्य क्रिया सदा पुल्लिङ्ग एकवचन रहती है—

१—मा ने पाल-पोस कर लड़की को इतना बड़ा बनाया।

२—मा ने पाल-पोस कर लड़कों को इतना बड़ा बनाया।

एकत्र कर्ता स्त्री-लिङ्ग है; पर क्रिया पुल्लिङ्ग है। कर्म भी स्त्री-लिङ्ग है। क्रिया न कर्ता के अनुसार, न कर्म के। अपरत्र कर्ता स्त्री-लिङ्ग एक वचन है और कर्म पुल्लिङ्ग बहुवचन, किन्तु क्रिया पुल्लिङ्ग एकवचन ही। इस क्रिया को, ऐसी जगह, कर्तृवाच्य या कर्म-वाच्य में बदल नहीं सकते हैं। बदलना सम्भव ही नहीं, प्रकृत नहीं।

परन्तु, यह बात क्या है? जबकि कर्ता में 'ने' विभक्ति लगी हुई है, तो फिर कर्म में 'को' विभक्ति लगाने की जरूरत क्या थी? 'को' के लगने से ही भाववाच्य भूतकाल में है; अन्यथा—

१—मैंने कथरी एक बनाई।

२—तू ने बकरी एक मँगाई।

३—लड़की ने भी चित्र बनाया।

यों कर्म-वाच्य प्रयोग मजे के रहते। तो, यह दो वाच्यों का झमेला क्यों? 'को' का अनावश्यक प्रयोग क्यों? इसीलिए तो अनेक परिष्कारक इस 'को' पर झल्लाए हैं।

प्रश्न ठीक है। कम से कम हिन्दी-जैसी वैज्ञानिक भाषा के लिए तो विचारणीय प्रश्न है ही। अन्यथा, कह दिया जाता कि "यह भाषा की प्रकृति है, ऐसा ही होता है; कारण-वारण का विचार करना व्यर्थ है।"

बात यह है कि "मा ने पाल-पोस कर लड़की को (या लड़कों को) इतना बड़ा बनाया' ऐसे प्रयोग बदले नहीं जा सकते। 'कथरी बनाई' की तरह कर्म-वाच्य नहीं हो सकते; पर 'कथरी' कर्म होने पर भाव-वाच्य प्रयोग भी होगा—

जोड़-गाँठ कर इस कथरी को,
हम ने नया बनाया;

या—

मा ने नया बनाया;

यहाँ क्रिया भाववाच्य है। तो, बात क्या है ? सुनिए। कथरी, चटाई, मकान आदि मनुष्य के बनाने की चीजें हैं ; परन्तु लड़की या लड़के का बनाना भगवान् का काम है। इसलिए, ऐसे कर्म होने पर कर्म-वाच्य क्रिया नहीं होती। भाववाच्य क्रिया जरूर होती है, वही सुन्दर है—

१—मा ने लड़कों को भला बनाया।

२—मा ने लड़की को भला बनाया।

'भला' क्रिया-विशेषण है, पुल्लिग-एक वचन। क्रिया 'बनाया' का सीधा अन्वय इसी से है—'भला बनाया'। 'भलापन' लड़की या लड़के के साथ सामानाधिकरण्य से नहीं है ; संज्ञा-विशेषण नहीं है। सो, 'बनाना' क्रिया का सम्बन्ध लड़की या लड़के से सीधा है नहीं। भला या बुरा बनाया जा सकता है, भगवान् के बनाए लड़के या लड़की को। इसीलिए ऐसी जगह क्रिया केवल भाववाच्य होती है। जो मनुष्य के बनाने की चीजें हैं, उनमें यथास्थान दोनों तरह के प्रयोग होते हैं :—

१—तूने अच्छी चटाई बनाई।

२—लड़की ने अच्छा चित्र बनाया।

इन कर्म-वाच्य क्रियाओं में स्पष्ट है कि ये मानवकृति हैं, 'तेरी' तथा 'लड़की' की बनाई हुई हैं। और वे दोनों चीजें अच्छी बनी हैं—अच्छापन उन की बनावट के साथ आया है। यदि चीजें पहले बन जाएँ और फिर उन बनी हुई चीजों में कुछ अच्छापन लाना हो, तब क्रिया 'भाववाच्य' होगी—

१—जोड़-गाँठ का इस **कथरी को** फिर से **नया बनाया**

मा ने फिर से नया बनाया।

२—नक्काशी से **गहनों को** तुमने **बहुमूल्य बनाया**।

३—तुमने इन **गहनों को** कैसे इतना है **चमकाया**।

बात समझ में आ गई होगी।

भाववाच्य क्रियाओं में चाहे जितने कर्ता या कर्म हों और वे चाहे जैसे (लिङ्ग-वचन आदि से) भिन्न-रूप हों, क्रिया के अन्वय में कोई गड़बड़ी नहीं पड़ती। परन्तु कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य क्रिया में समस्या सामने आती है, जबकि कर्ता या कर्म अनेक हों और असमान-लिङ्ग या असमान-वचन हों।

ऐसी स्थिति न आने दी जाए, तो अच्छा। समान-लिङ्ग और समान-वचन कर्ता तथा कर्म हों, तो अच्छा लगेगा ; क्रिया के अन्वय में भी वैसी समस्या सामने न आएगी। फिर भी वैसे स्थल आते ही हैं। उसके लिए व्याकरण में एक नियम लिखा गया कि अन्तिम कर्ता के अनुसार कर्तृवाच्य क्रिया और अन्तिम कर्म के अनुसार कर्मवाच्य क्रिया रहती है। ठीक है। समीप जो होगा, उसी का वरण होगा। परन्तु—

'देखि रूप **मोहे** नर-**नारी**'

इस तरह के प्रयोग सामने हैं।

इसी तरह—

"कश्यप और **अदिति** प्रणाम **करते हैं**"

"मैं और मेरी सरकार इसके लिए प्रयत्नशील **रहेंगे** कि···"

वचन तो ठीक, दोनों के लिए सम्मिलित बहुवचन ; परन्तु अन्तिम कर्ता के अनुसार क्रिया स्त्री-लिङ्ग कहाँ है ? यह क्या बात ?

वस्तुतः ऐसी जगह **'दोनों'** एक साथ **'चलते हैं'**—'दोनों' 'चारों' 'छहों' आदि सर्वत्र एक-रूप रहते हैं और 'सामान्यतः' पुल्लिङ्ग।

"कौन-कौन आया" "दोनों आ गए न ?" यों सर्वत्र चलन है। पुरुष भी आए, स्त्रियाँ भी आईं और प्रश्नकर्ता उन सबके लिए पुंप्रयोग करता है—'कौन-कौन आया ?' स्त्री भी आई है, केवल पुरुष ही नहीं, दोनों हैं ; फिर भी कहा जाता है—'दोनों आ गए।'

सो, 'नर-नारी' तथा कश्यप-अदिति आदि में 'दोनों' अध्यवसित हैं। इसी तरह 'मैं और मेरी सरकार—दोनों—सचेष्ट रहेंगे' समझिए।

आरोप या तादात्म्य में विधेय पर प्रधानता रहती है ; उसी के अनुसार क्रिया रहेगी—

१—उस समय मुस्लिम लीग का 'डाइरेक्ट ऐक्शन' के रूप में जन-**विप्लव करना** एक भयंकर **अराजकता थी**।

२—उस समय हमारे जिस नेता के हाथ में सरकारी शक्ति थी, उसका उस तरह **चुप रहना** और उस संस्था पर कानूनी प्रतिबन्ध न **लगाना** एक बड़ी भारी **भूल थी**।

प्रथम वाक्य में उद्देश्य या आरोप का विषय 'करना' पुल्लिङ्ग है ; परन्तु

विधेय या आरोप्यमाण की प्रधानता है ; अतः क्रिया स्त्रीलिङ्ग है—'थी'। 'अराजकता' के अनुसार यह 'थी' है। दूसरे उदाहरण में भी यही बात है ; प्रत्युत 'वचन' भी द्रष्टव्य है। 'चुप रहना' और 'न लगाना' ये दो मिलकर बहुवचन की सृष्टि करते हैं। परन्तु क्रिया स्त्रीलिंग एकवचन है—'थी'। 'भूल थी'।

'वचन' सदा ही 'विधेय' के अनुसार नहीं रहता है—

'राम और रहीम एक ही चीज हैं'।

यहाँ 'राम' तथा 'रहीम' के एकत्व का प्रतिपादन है। वही 'विधेय' है। परन्तु 'एक चीज' के अनुसार क्रिया में एक-वचन नहीं है ; प्रत्युत उद्देश्य 'राम' और 'रहीम' के अनुसार 'हैं' बहुवचन है। 'राम और रहीम हैं'। क्या हैं ? 'एक चीज हैं'। क्रिया यद्यपि अन्तिम पद 'एक चीज' के समीप है ; पर उससे प्रभावित नहीं। 'एक चीजें' भी नहीं हो सकता। 'चीजें' से तो फिर 'एकता' नष्ट होकर अनेकता आ जाती है। जहाँ वास्तविक एकता न होकर औपचारिक हो, वहाँ भी 'एक' बहुवचन में न रहेगा—

१—रामगोपाल और इस्माइल एक हैं।

२—माँ और भाभी इस बात में एक हैं।

कहीं 'एक' बहुवचन में भी आएगा—

"एक नेता ऐसा कहते हैं,
दूसरे कुछ और कहते हैं।"

यहाँ 'एक' वस्तुतः संख्या-वाचक नहीं, 'प्रकार'-वाचक है—'एक तरह के नेता ऐसा कहते हैं'। इसीलिए एकवचन नहीं है। परन्तु 'राम और रहीम एक चीज हैं' में 'एक' संख्या-वाचक है और वह दोनों के लिए है। बहुवचन होता, तो 'विशेष्य' 'चीजें' होता। और यदि 'चीज होता, तो फिर वह 'एकत्व' कहाँ रहता, जिसका प्रतिपादन है ?

यों सब सुन्दर तथा स्पष्ट है।

कुछ लोग कहते हैं कि ऐसे प्रयोग गलत हैं—

१—नेताओं को रिहा करना मूर्खता थी।

२—राज्य उसके पास एक थाती थी।

वे भ्रम में हैं। यहाँ 'था' कभी हो नहीं सकता। विधेय की प्रधानता है—आरोप्यमाण पर जोर है। छात्रों को भाषा की स्वाभाविक गति पर

ध्यान देना चाहिए। यदि कहीं भ्रम हो, तो निर्णय के लिए वैसी परिष्कार-पुस्तकें या 'कोश' की तिजौरी न खोलकर जनप्रवृत्ति देखनी चाहिए।

उदाहरणतः यहाँ क्रिया विधेय के अनुसार नहीं, उद्देश्य के अनुसार होगी—'**पुरुष स्त्री बन जाता** है और **स्त्री पुरुष बन जाती है,** यदि भावना वैसी हो ; ऐसा मनोविज्ञान के पण्डित कहते हैं।' यहाँ पुरुष का स्त्री में या स्त्री का पुरुष में वैसा औपचारिक तादात्म्य नहीं, प्रत्युत वास्तविक उस रूप में परिणत होना कहा गया है।

कहीं व्याकरण-विधान भी देखना जरूरी हो जाता है—

१—राम को **पुस्तक पढ़ना** चाहिए।
२—राम को **पुस्तक पढ़नी** चाहिए।
३—मुझे राम का **पुस्तक पढ़ना** अच्छा लगता है।

इन तीन वाक्यों में विभिन्न क्रिया-रूपों पर विचार करना है। क्या ठीक है ? तीनों ठीक हैं क्या ? सोचिए।

प्रथम वाक्य में 'पुस्तक पढ़ना चाहिए' में 'पढ़ना' भाववाच्य है, जो सदा पुल्लिङ्ग-एकवचन रहेगा। दूसरे वाक्य में 'पढ़नी' कर्म-वाच्य प्रयोग है—'पुस्तक' (कर्म) के अनुसार 'पढ़नी'। 'ग्रन्थ पढ़ना चाहिए' और 'चारों वेद पढ़ने चाहिए'। स्पष्टतः 'कर्म' का अनुगमन है। तो, क्या दोनों रूप ठीक हैं ? नहीं। प्रथम वाक्य में 'पुस्तक पढ़ना चाहिए' गलत है। विशेष खटकता इसलिए नहीं कि 'मुझे राम का **पुस्तक पढ़ना** अच्छा लगता है' इस तरह के वाक्य कानों में पड़ते रहते हैं। प्रथम वाक्य में और तृतीय वाक्य में बड़ा अन्तर है। प्रथम वाक्य में भाववाच्य नहीं, कर्मवाच्य चाहिए और तृतीय वाक्य में भाव-वाच्य बदल ही नहीं सकता।

देखिए। प्रथम वाक्य की मुख्य क्रिया को उलट-पलट कर देखिए—'कर्म' को स्त्री-लिंग के तथा पुल्लिङ्ग के बहुवचन में करके देखिए। भाववाच्य क्रिया में कोई परिवर्तन होता ही नहीं है।

१—राम को **पुस्तकें पढ़ना** चाहिए।
२—राम को **चारों वेद पढ़ना** चाहिए।

देखिए। कैसे लगते हैं ? अच्छे नहीं लगते ? क्यों ? इसलिए कि ऐसी क्रिया भाव-वाच्य रूप में नहीं, कर्म-वाच्य रूप में रहती है। इसलिए कर्म

के अनुसार—

१—राम को **पुस्तकें पढ़नीं** चाहिए।

२—राम को **चारों वेद पढ़ने** चाहिए।

रूप होंगे। और इसी लिए वह प्रथम वाक्य यों होगा—

'राम को पुस्तक पढ़नी चाहिए'

परन्तु तीसरे वाक्य का **'पुस्तक पढ़ना'** बिलकुल ठीक है—'भाववाच्य' रूप। इसे कर्म-वाच्य में कर देना गलती होगी। सर्वत्र पुल्लिंग-एकवचन—

१—मुझे राम का **पुस्तक पढ़ना** अच्छा लगता है।

२—लड़कियों को **बेल-बूटे काढ़ना** अच्छा लगता है।

३—लड़कों को **पतंग उड़ाना** अच्छा लगता है।

४—छात्रों को **कबड्डी खेलना** अच्छा लगता है।

५—सिपाही को **घोड़े देखना** ही भाता है।

यों सर्वत्र 'पढ़ना' 'काढ़ना' 'उड़ाना' 'खेलना' तथा 'देखना' भाव-वाच्य रूप हैं। इन्हें कर्म-वाच्य नहीं किया जा सकता—

'मुझे राम की पुस्तक पढ़नी अच्छी लगती है' इत्यादि प्रयोग गलत होंगे। 'पुस्तक पढ़ना' आदि ऐसे रूप हैं, जैसे संस्कृत के 'पुस्तक-पठनम्'।

१—मह्यम् रामस्य **पुस्तक-पठनं** रोचते।

२—रमायै सुशीलायाः **वेद-पठनं** रोचते।

३—कस्मैचिदपि रामस्य **वन-गमनं** न रोचते।

संस्कृत में चौथी विभक्ति जहाँ है, वहाँ हिन्दी अपनी 'को' विभक्ति लगाती है। मुझे, लड़कियों को, छात्रों को तथा सिपाही को 'अच्छा लगता है'। क्या अच्छा लगता है?—

राम का पुस्तक पढ़ना
बेल-बूटे काढ़ना
पतंग उड़ाना
कबड्डी खेलना

कर्म-वाच्य रूप यों होंगे—

१—राम को पुस्तक पढ़नी है।

२—लड़के को चारों वेद पढ़ने हैं।

३—लड़कियों को बेल-बूटे काढ़ने हैं।

इत्यादि।

इन कर्मवाच्य रूपों से क्रिया की अनिवार्यता की प्रतीति होती है। यदि 'हैं' की जगह 'चाहिए' कर दें, तो क्रिया फिर विधि-प्रधान हो जाएगी। 'वेद पढ़ने चाहिए' 'बूटे काढ़ने चाहिए'। उन भाववाच्य रूपों में यह बात नहीं। वहाँ तो क्रिया का सामान्य रूप भर है—पढ़ना, काढ़ना, खेलना आदि। परन्तु 'कबड्डी खेलनी है' नहीं होता—'कबड्डी खेलना है' चलता है। कारण क्या? खेल-कूद को पहले के लोग वैसा अनिवार्य या आवश्यक कर्तव्य न समझते थे। इसीलिए कर्म-वाच्य न होकर भाव-वाच्य चलता है। 'ने' विभक्ति के साथ 'राम ने पुस्तक (या पुस्तकें) पढ़ना शुरू किया' तथा 'राम ने पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दिया' यों भाववाच्य प्रयोग होते हैं। यहाँ क्रिया की अनिवार्यता प्रकट करना अभीष्ट नहीं है।

'चाहिए' या 'चाहिएं'?

ऊपर 'चाहिए' कई जगह आप देख रहे हैं। इसके प्रयोग में बहुत दिन से बड़ी गड़बड़ है। पहले लोग—'विद्वान्' लोग—'चाहिये' लिखा करते थे। मैंने ब्रजभाषा-व्याकरण की भूमिका में तथा 'शेखन-कला' में बताया कि 'चाहिये' गलत है, 'चाहिए' चाहिए। तब से 'चाहिए' रूप चल रहा है। परन्तु इसके 'वचन' में भ्रम है। लोग लिखते हैं।

१—'हमें पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ'।

२—'उसे सब विद्याएँ सीखनी चाहिएँ'।

यों बहुवचन में 'चाहिए' का मिनमिना रूप 'चाहिएँ' देखने में आ रहा है। पहले मैंने इस पर अधिक न सोचा था, फिर सोचा और अब कुछ बताने की स्थिति में हूँ।

'चाहिएँ' रूप गलत है—सर्वत्र 'चाहिए' ही चाहिए। 'चाहिए' एक सहायक क्रिया है, विधि का प्रतिपादन करने के लिए आती है और भाव-वाच्य है; इसलिए सदा एक-रूप 'चाहिए' रहेगी। कृदन्त भाववाच्य क्रियाएँ सदा पुल्लिङ्ग एकवचन रहती हैं और यह 'चाहिए' 'तिङन्त' क्रिया स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग

तथा एकवचन-बहुवचन में एकरस अपरिवर्तित रहती है। लिङ्ग-वचन का भेद मुख्य क्रिया से प्रकट होता है—

१—राम को **ग्रन्थ पढ़ना** चाहिए ।

२—राम को **चारों वेद पढ़ने** चाहिए ।

३—राम को पुस्तक पढ़नी चाहिए ।

४—राम को पुस्तकें पढ़नीं चाहिए ।

चौथे उदाहरण में 'पढ़नीं' बहुत्व के लिए है ; जैसा कि दूसरे उदाहरण में 'पढ़ने' है। जबकि 'पढ़नीं' बहुवचन है, तब आगे बहुत्व प्रकट करने के लिए कोई आयोजन व्यर्थ है—दो जगह अनुस्वार भद्दा लगता है। इसीलिए 'लड़कियाँ आ गई थीं' में 'गई' निरनुस्वार है। चूँकि 'चाहिए' भाव-वाच्य क्रिया है, इसलिए 'पढ़नीं' आदि मुख्य क्रियाओं ने ही अनुस्वार स्वीकार करके बहुत्व प्रकट कर दिया। यदि ऐसा न मानकर 'चाहिएँ' ही लिखने की जिद हो, तो फिर इसमें स्त्रीपुंभेद न सही, 'पुरुष' भेद तो करना ही होगा। क्या सम्भव है ? और फिर 'हमें वे काम करने चाहिए' में भी 'चाहिए' करना होगा। 'करने' से काम न चलेगा। 'हमें वे काम करने हैं' में जैसे 'करने' होने पर भी 'हैं' क्रिया बहुवचन है। सो, वह सब भ्रम है। 'है' तिङन्त क्रिया 'कर्तृवाच्य' है और 'चाहिए' भाववाच्य। सब व्याकरण से स्पष्ट समझना चाहिए।

सो, सर्वत्र 'चाहिए' लिखिए। ऐसी ही क्रियाएँ 'कीजिए' आदि 'प्रार्थना' प्रकट करने के लिए हैं—भाववाच्य—अपरिवर्तनशील—

१—आप काम कीजिए ।

२—आप शुभ क्रियाएँ कीजिए ।

'आप' सदा बहुवचन में रहता है और 'क्रियाएँ' (कर्म) भी बहुवचन। परन्तु 'कीजिए' को न कर्ता से मतलब, न कर्म से। सदा 'कीजिए'। इसे 'कीजिएँ' कर देना अच्छा है क्या ? इसी तरह 'चाहिएँ' गलत है।

'वचन'-विवेचन

हिन्दी में 'एकवचन' और 'बहुवचन' ये दो ही 'वचन' हैं। संस्कृत में 'द्विवचन' भी होता है। संसार में 'युगल' या 'युग्म' बहुत हैं—दो आँखें, दो

कान, दो हाथ, दो पाँव और जाड़ा-गरमी, राग-द्वेष, शीत-उष्ण आदि । इन्हें द्विवचन में प्रकट करना सुन्दर लगता है । परन्तु हिन्दी ने द्विवचन का झमेला हटा दिया है । 'एक' और उससे आगे 'अनेक'—बहुत । सम्भव है, किसी समय हिन्दी में भी द्विवचन रहा हो ! गेहूं आदि तौलने का काम करने वाले 'तौला' लोग जब पंसेरी या 'धड़ी' से तौलना शुरू करते हैं, तो जोर-जोर से संख्या बोलते जाते हैं—'चारा हैं चारा' और ये 'पाँचा हैं पाँचा' आदि । जोर से इस-लिए बोलते हैं कि और लोग भी सुनते रहें, कोई भूल-चूक न हो । पहली 'पंसेरी' या 'पंसेरी' फेंकते हुए वे कहते हैं 'रामा है रामा' 'रामा है रामा' । अर्थात् 'एक' । 'राम' तो एक ही है न ? फिर कहते हैं—'दोआ है, दोआ' । इसके बाद तीसरी पंसेरी फेंकते हुए कहते हैं—'बहुता है बहुता' । यदि हिन्दी में कभी द्विवचन न होता, तो 'दोआ' की जगह ही 'बहुता' कहने की चाल होती । तीन से बहुत्व चलता होगा ; इसीलिए यहाँ 'बहुता' कहा गया । कुछ दिन के अनन्तर द्विवचन लुप्त हो गया होगा । तब लोगों ने सोचा होगा कि 'तीना है तीना' न कह कर 'बहुता है बहुता' क्यों कहा जाता है ! अवश्य ही 'तीन' का उच्चारण अमंगलकर होगा ! तब 'तीन' की संख्या ही अनिष्टकर समझी जाने लगी होगी । अब तक यह इसी तरह है ।

खैर, हमारे यहाँ द्विवचन अब नहीं है ; इतना समझ लीजिए—एकवचन और बहुवचन । एक के लिए एकवचन और उसके बाद बहुवचन ।

आदर के लिए तथा पद-मर्य्यादा का ध्यान करके 'एक' के लिए भी बहुवचन दिया जाता है । एक बड़ा आदमी न जाने कितने छोटे लोगों के बराबर होता है ; और ज्यादा ही । पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को तथा समाज के नेताओं को प्रायः बहुवचन में ही बोलना होता है, बोलना चाहिए । कारण, वे समाज का या उसके किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, केवल अपनी तरफ से नहीं बोलते हैं । हाँ, जहाँ व्यक्तिगत चर्चा हो, अपना कोई व्यक्तिगत मत-प्रदर्शन हो, वहाँ एकवचन का ही प्रयोग वैसे लोगों को भी करना चाहिए । कभी-कभी एकवचन से बड़ी अहंमन्यता प्रकट होती है । एक राजा या बादशाह को भी सार्वजनिक रूप से 'मेरे देश में शिक्षा की कमी नहीं है' यों एकवचन 'मेरे' का प्रयोग करना अच्छा नहीं लगता । 'हमारे देश में' चाहिए । देश तो सभी का है न ? कोई-कोई नेता व्याख्यान में कह देते हैं—'जहाँ तक मेरे देश का सवाल है'— कितना भद्दा ! जैसे देश इनका जड़-खरीद हो ! 'मेरे कमरे में'

कहें तो ठीक। बाहरी आदमी के सामने—'मेरे घर में' भी कह सकते हैं। परन्तु घर के ही लोगों के सामने—'मेरे घर में तो कोई किसी की सुनता ही नहीं। घर उन लोगों का भी है, जिनके सामने वैसा कहा जा रहा है। इसलिए 'हमारे घर में' बोलना चाहिए। 'इस घर में' भी बोल सकते हैं। किसी बड़े आदमी को भोजन के लिए निमंत्रण देने गए और कहा—'आज मेरे घर भोजन कीजिएगा' तो अच्छा न लगेगा। कहना चाहिए—'आज घर चलकर भोजन कीजिएगा।'

कभी-कभी बहुवचन की जगह भी एकवचन अच्छा लगता है और वह सम्पूर्ण जाति का बोधक हो जाता है—'अंग्रेज कभी भी अपने देश को भूल नहीं सकता।' यहाँ बहुत्व में एकवचन है—'अंग्रेज' से अंग्रेज जाति का ग्रहण है। तो फिर बहुवचन ही क्यों न दिया ? बात यह है कि भाषा-प्रयोग की ये बारीकियाँ हैं। एकवचन देने से यह ध्वनित होता है कि प्रत्येक अंग्रेज में वह बात है; एक भी अंग्रेज उस भावना से खाली नहीं है। 'अंग्रेज कभी भी अपने देश को भूल नहीं सकते' बहुवचन कर देने से वह बात नहीं रहती। कारण, बाहुल्य से वर्ताव होता है। समझा जा सकता है—अंग्रेजों में अधिकांश ऐसे हैं, जो अपने देश को कभी नहीं भूलते। परन्तु उस तरह एकवचन देने से बात कुछ और हो जाती है।

इन बारीकियों में न जा सकें, तो एकवचन तथा बहुवचन का यथास्थित प्रयोग तो करना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ लोग बड़ी असावधानी करते हैं। हिन्दी के एक बड़े नामी कवि ने तो हद ही कर दी है, 'वचन'-प्रयोग की विधि में ! ऐसे भाषा-विप्लव अच्छे नहीं। कभी-कभी "मतदाताओं, उम्मीदवारों तथा उनके समर्थकों को चाहिए कि..." ऐसे वाक्य देखने में आते हैं। कई जगह 'को' के बिना (ों) ठूँठ-सा बुरा लगता है। सब के साथ 'को' लगा दें, तो भी 'को, को, को' कावँ-कावँ-सा खटकता है। ऐसी जगह यदि जाति-रूप से एकवचन दे दें—"मतदाता, उम्मीदवार तथा उसके समर्थक को चाहिए कि..." तो वाक्य का गठन अच्छा हो जाता है। अर्थ में भी कुछ बल आ जाता है।

लाक्षणिक प्रयोगों में (मुहाविरों में) और साधारण प्रयोगों में अन्तर है—

'हम लोगों की तो नाक कटगई।'

'नाक एकवचन है, जबकि 'हम लोगों की' यह बहुवचन है। यहाँ 'नाकें

कट गईं' न होगा। कारण, लाक्षणिक प्रयोग है। यदि साधारण प्रयोग हो, वस्तुतः नाकें कट गई हों, तो बहुत्व में बहुवचन होगा ही—

'उन सब लोगों की नाकें काट ली गईं।'

मतलब यह कि नाकें वस्तुत: काट ली गई हैं। इसी तरह—

'हमारा तो सिर नीचा हो गया।'

'इस काम से तुम लोगों का सिर ऊँचा हुआ है।'

यों लाक्षणिक प्रयोग में 'सिर' एक वचन है। परन्तु यदि साधारण प्रयोग हो, तो फिर बहुत्व—विवक्षा में बहुवचन होगा ही—

'हम लोगों ने अपने सिर नीचे कर लिए।'

'तुम लोग अपने सिर ऊँचे करो।'

लाक्षणिक प्रयोगों में क्रिया 'कर्म-कर्तृ' रूप में है—'नाक कट गई' और 'सिर नीचा हो गया'। साधारण प्रयोगों में साधारण क्रिया-रूप हैं।

यदि अङ्ग हाथ-पावँ आदि हैं, तो लाक्षणिक प्रयोग भी बहुवचन होते हैं—

'हस्ताक्षर करके तो उसने अपने हाथ कटा लिए।'

'जरा सी विपत्ति से ही उसके हाथ-पावँ फूल गए!'

सिर तथा नाक आदि में एक-वचन और हाथ-पावँ आदि में बहुवचन, लाक्षणिक प्रयोगों में भी बहुवचन। कारण 'उसका हाथ-पावँ' अच्छा नहीं। "हस्ताक्षर करके उसने अपना हाथ कटा लिया।" भी अच्छा न लगेगा, क्योंकि ऐसा जान पड़ता कि सच-मुच एक हाथ कट गया हो। 'हाथ कट गए' मुहाविरा (रूढ़ि-लक्षणा) है—'हाथ कट गया' नहीं। ऐसी जगह प्रवाह-प्राप्त प्रयोग होते हैं—यहाँ अपना व्याकरण-ज्ञान न खर्च करना चाहिए।

इस अध्याय का सार-संक्षेप यह है कि भाषा के गठन का तथा इसके प्रवाह का ध्यान रखना चाहिए; हो सके तो समझना भी चाहिए। यदि व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान न भी समझा हो, तो भी भाषा का सुन्दर, चुस्त और गठीला विन्यास कोई भी कर सकता है, यदि प्रचलित प्रवाह पर ध्यान रख-कर उसी के आधार पर चले। प्रवाह पर ध्यान न देने से बड़े-बड़े वैय्याकरण तथा भाषाविज्ञानी भी भटक जाते हैं और कहीं के कहीं जा पड़ते हैं! धरती का अच्छा उपयोग करने वाले किसान के लिए यह जरूरी नहीं कि वह इस (धरती) के बारे में विज्ञान-मूलक जानकारी प्राप्त करे कि यह कैसे बनी, कब

बनी और यह घूमती है कि नहीं ; इत्यादि । उसे अपने काम की बातें देखनीं चाहिए । काम चल जाएगा । उन बातों से अनभिज्ञ भूतत्त्व-वेत्ता खेती क्या करेगा ? उपयोग सब अलग-अलग हैं ।

सो, इस पुस्तक के ये विचार-विवेचन दिमाग पर कहीं बोझ न डाल दें कि 'ओहो, हिन्दी लिखना तो बहुत कठिन है और फिर अच्छी हिन्दी !' ऐसा बोझ पड़ा और गए !

मुख्य सिद्धान्त प्रवाह है । उसे पकड़ कर चलिए ; लक्ष्य पर पहुँच जाइएगा वह प्रवाह वैसा क्यों है ; इसका विवेचन व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान का काम है ; जान लें, तो और भी अच्छा । हाथों से आप भी उसी तरह काम लेते हैं जैसे शरीरशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित ; परन्तु आप हाथ की बनावट नहीं जानते और जरा भी बिगाड़ हो जाने पर उसे ठीक नहीं कर सकते । बस, इतना अन्तर है ।

तीसरा अध्याय

शब्द-संग्रह

भाषा में शब्द ही तो सब-कुछ हैं। अच्छी भाषा लिखने के लिए अच्छा-खासा शब्द-संग्रह अपेक्षित है। दिमाग को 'शब्द-कोश' बनाना होता है, कागजी शब्द-कोश से काम नहीं चलता। कहीं किसी के वाक्य का अर्थ, किसी शब्द के अर्थ-बोध के बिना, न लगता हो, तब वे कागजी 'कोश' कुछ सहायता कर सकते हैं। परन्तु निर्माण-कार्य में उनसे काम नहीं निकल सकता। भाषा के गठन का चाहे-जैसा ज्ञान हो और चाहे जितनी निपुणता शब्द-प्रयोग में प्राप्त हो, शब्द-राशि का संग्रह किए बिना कोई कर क्या सकेगा ? हाँ, कुछ शब्दों से अन्य शब्द, अन्य अर्थों के लिए, गढ़े जा सकते हैं ; परन्तु मूल शब्द तो चाहिए ही। भवन-निर्माण की कला में सुदक्ष जन भी क्या करेगा, यदि उसे ईंट, पत्थर, चूना-सीमेंट तथा लकड़ी आदि आवश्यक सामग्री पूर्ण मात्रा में प्राप्त न हो। वह उस सामग्री को फिर देखकर एकदम रद्दी चीजें अलग छाँट देगा और शेष सामग्री का वर्गीकरण करके उपयोग में लाएगा—जहाँ जिस तरह का पत्थर, ईंट या लकड़ी लगाना ठीक समझेगा, लगाएगा। किसी जगह कोई चीज अच्छी लगती है, किसी जगह कोई दूसरी। यही स्थिति भाषा में शब्दों की है।

हिन्दी में इसके अपने तथा संस्कृत से आए हुए तद्भव शब्दों की अनन्त राशि है। आवश्यकतानुसार और चाहे जितने शब्द संस्कृत से लेते चले जाइए ; कोई कमी नहीं है। संस्कृत से नए शब्द आवश्यकतानुसार लेने में सम्पूर्ण राष्ट्र का हित है—राष्ट्र की सभी प्रादेशिक भाषाएँ संस्कृत से समृद्ध हैं—संस्कृत के कारण ही सब में एक-सूत्रता है। उसी सूत्र को राष्ट्रभाषा ने पकड़ा है।

यथावश्यक प्रादेशिक बोलियों से भी नए शब्द लेकर राष्ट्रभाषा का कोश बढ़ाना चाहिए। मेरठ की ओर एक शब्द 'छीड़' प्रचलित है, 'भीड़' का एकदम उलटा। जब रेल में बहुत जगह खाली हो, लोग दूर-दूर बैठे हों, तो

कहा जाता है—'आज तो रेल में बहुत छीड़ है।' इस शब्द को साहित्य में ले लेना चाहिए ; क्योंकि 'रेल में भीड़ नहीं है' कहने से वह मतलब आता नहीं है। 'भीड़ न होना' एक बात है और 'छीड़ होना' दूसरी। 'गरीब न होना' एक चीज है और 'धनी होना' दूसरी।

इसी तरह कानपुर के इधर-उधर 'पानी भरने की रस्सी' इस वाक्यात्मक चीज के लिए छोटा-सा गठा हुआ शब्द है—'उबहनी'। इस 'उबहनी' के लिए ही वह वैसा उतना बड़ा वाक्यकल्प शब्द-समूह देना पड़ता है, जैसे 'हलवाई बैठा है' की जगह कोई बोले—'मिठाइयाँ बनाकर बेचने वाला आदमी बैठा है।' कैसा लगेगा ? 'उबहनी' संस्कृत की 'उद्वाहनी' से उद्भूत है—'उत् उद्ध्वर्म् वाह्यते अनया, असौ उद्वाहनी-जलोद्वाहनरज्जू। इसी 'रज्जू' को व्रज में 'लेजू' बोलते हैं। परन्तु 'उबहनी' में जो बात है, वह 'लेजू' में नहीं है। 'उद्वाहनी' के बहुत समीप 'उबहनी' है।

परन्तु ऐसे देहाती शब्द साहित्य में न लेने होंगे, जो सुनने में बेढँगे जान पड़ें। व्रज में 'सबेरे' के लिए 'धौताएँ' चलता है ; परन्तु व्रजभाषा-साहित्य ने इसे ग्रहण नहीं किया—सर्वत्र 'प्राप्त' तथा 'सबेरे' आदि चलते हैं। इसी तरह वापस आने के लिए व्रज में 'बगदना' क्रिया-शब्द प्रचलित है—'कब बगदैगो' ? इस 'बगदना' को भी व्रजभाषा-साहित्य ने नहीं लिया है। यही स्थिति राष्ट्र-भाषा (खड़ी बोली) की है। मेरठ इसका घर है ; परन्तु इसे शक्ति मिली है—कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, काशी आदि के क्षेत्रों से। तो भी, इन प्रदेशों की बोलियों ने इसके स्वरूप पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाला है—प्रादेशिक बोलियों के शब्द यहाँ गृहीत नहीं हुए, जो बहुक्षेत्र-व्यापक नहीं, या जो श्रवण-कटु हैं।

साहित्य में 'बाजारू' शब्द भी न देने चाहिए ; जैसे—'उल्लू का पट्ठा' या 'घनचक्कर' आदि।

कभी-कभी किसी सामयिक चर्चा में कोई शब्द किसी विशेष अर्थ में थोड़े दिनों के लिए चल पड़ता है ; जैसे 'अश्लील' या कुरुचिपूर्ण साहित्य के लिए कुछ दिन पहले 'घासलेटी साहित्य' नाम प्रसिद्ध हो गया था। साहित्य के स्थायी ग्रन्थों में 'अश्लील साहित्य' की जगह 'घासलेटी साहित्य' देना अच्छा न होगा। लोग समझ ही न पाएँगे। अभी भूल गए।

इसी तरह एक अर्थ में प्रचलित शब्द को किसी दूसरे अर्थ में चलाना ठीक नहीं ; विशेषतः तब, जबकि उसका योगार्थ साथ न देता हो। महात्मा गान्धी ने इस देश के उन लोगों पर अधिक ध्यान दिया, जिन्हें लोग 'अस्पृश्य' समझने लगे थे। 'अस्पृश्य' के लिए हिन्दी में 'अछूत' चला, बहुत साफ और स्पष्ट शब्द। परन्तु अछूतपन की भावना दूर करने के लिए तथा उन तिरस्कृत जनों को सम्मान देने के लिए महात्मा जी ने 'हरिजन' शब्द चलाया। 'हरिजन' माने भगवद्भक्त। किन्तु इस सुन्दर-पवित्र शब्द से भी वस्तुस्थिति ज्यों की त्यों रही। जो चीज 'अछूत' से समझी जाती थी, वही 'हरिजन' शब्द से समझी जाने लगी। आगे चलकर उन लोगों ने स्वयं इस शब्द का (अपने लिए) प्रयोग नापसन्द किया, जिनको महत्त्व देने के लिए यह चलाया गया था।

इधर तो यह हुआ ; साहित्य में क्या हुआ ? भारतेन्दु के 'इन मुसलमान हरिजननि पर कोटिन हिन्दुन वारिये' जैसे वाक्यों का अर्थ छात्रों के लिए अटपटा हो गया। पूछा जाने लगा कि "रहीम तथा रसखान आदि क्या मुसलमानों के अछूत वर्गों के थे ? क्या मुसलमानों में अछूत होते हैं ? मुसलमानों में भंगी आदि होते हैं, जिन्हें लाहौर की ओर 'मुसल्ली' कहा जाता है। मुसलमान इन्हें अपने साथ नहीं बैठाते। पर रहीम-रसखान ऐसे 'हरिजन' न थे।

खैर, कहने का मतलब यह है कि किसी प्रसिद्धार्थ शब्द की गति बदलना –किसी शब्द का अपना काम रद करके उससे दूसरा काम लेना—ठीक नहीं है। इससे भाषा के प्रवाह में गड़बड़ी पड़ती है।

नए शब्दों के निर्माण में, शब्दों के गठन में या प्रयोग करने में प्रायः गलतियाँ होती हैं। कुछ उदाहरण लीजिए।

१—'स्मरण-पत्र' और 'स्मारक-पत्र'

कुछ दिन से 'स्मरणपत्र', 'स्मृति-पत्र' और 'स्मारक-पत्र' एक नए अर्थ में चलाए जा रहे हैं ; 'स्मरण, तथा 'स्मृति, यौगिक शब्द हैं। 'स्मारक' भी उसी कुटुम्ब का है ; किसी को याद दिलाने के लिए जो पत्र लिखा जाए वह 'स्मरण-पत्र', 'स्मृति-पत्र' या 'स्मारक पत्र'—'रि-माइंडर' ! परन्तु कुछ लोग 'आवेदन-पत्र के अर्थ में इसे लिखने लगे हैं ! यह भ्रमात्मक-प्रयोग बहुत भद्दा तब फिर याद-दिहानी के लिए भेजे गए पत्र को क्या कहेंगे ? 'स्मृति-पत्र' आदि से 'आवेदन-पत्र' का अर्थ निकलता भी कहाँ है ?

शब्द-संग्रह

इसी तरह के गलत प्रयोग का चलन कैसे हुआ ? अंग्रेजी में एक शब्द है— 'मेमोरेंडम'। जब कहीं की जनता सामूहिक रूप से कुछ प्रार्थना करती हुई किसी अधिकारी को उस विषय में प्रार्थना-पत्र देती है, तो उस 'सामूहिक प्रार्थना-पत्र' को 'मेमोरेंडम' कहा जाता है। हमारे यहाँ उसी अर्थ में 'आवेदन-पत्र' मजे से चल रहा था। अर्जी या 'अप्लीकेशन' के अर्थ में 'प्रार्थना-पत्र' व्यक्ति-गत प्रार्थना। और, सामूहिक प्रार्थना से लिए 'आवेदन-पत्र'। 'प्रार्थना' तथा 'आवेदन' में अन्तर भी हो गया। अर्थ समझा हुआ और चालू प्रयोग। उसकी जगह 'विद्वान्' लोगों ने 'स्मरणपत्र', 'स्मृति-पत्र' तथा 'स्मारक पत्र' इन्हीं 'विप्लव' के दिनों में चलाए। यह इसलिए किया गया कि अंग्रेजी के 'मेमोरेंडम' शब्द के बनने में जो (अंग्रेजी भाषा की) धातु लगी है, उसका अर्थ 'स्मरण' है। तब उस अर्थ में प्रचलित अपना 'आवेदन-पत्र' इन समझदारों ने गलत समझा ; क्योंकि इसका गठन तो स्मरणार्थक धातु से है नहीं ! इसीलिए 'स्मृति-पत्र' चलाया गया !

देखना यह है कि 'मेमोरेंडम' में मुख्य चीज स्मरण कराना है, या आवेदन करना। यदि स्मरण कराने-जैसी चीज वहाँ नहीं है, तो फिर हमें अंग्रेजी के उस शब्द का गठन वैसा ही समझना चाहिए, जैसा अपने यहाँ 'पञ्चानन' शब्द का है। सिंह के पाँच मुँह नहीं होते हैं। फिर भी उसे 'पञ्चानन' कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में सिंह का पर्य्याय पहले से ही सुव्यवस्थित होने पर भी यदि कोई 'अंग्रेजी-भक्त' अंग्रेज अपनी भाषा में एक कमी का अनुभव करे, यह सोच कर कि 'लायन' (Lion) में वह तत्त्व नहीं, जो 'पञ्चानन' में है और उस कमी को पूरा करने के लिए वह अंग्रेजी में, उसी अर्थ के लिए, एक नया शब्द 'फाइव-माउथ' गढ़े-चलाए, तो उसे लोग क्या कहेंगे ? पागलखाने भेजेंगे कि नहीं ?

सो, 'मेमोरेंडम' के लिए हमारे यहाँ 'आवेदन-पत्र' है। 'स्मृतिपत्र' आदि का प्रयोग 'रि-माइंडर' के लिए है। उलट-पुलट करके भाषा-विप्लव खड़ा करना बड़ा भारी अपराध है।

अनावश्यक 'पुरोगम' तथा 'अन्तिमेथम्' जैसे शब्दों को गढ़कर चलाना भी दरिद्रता प्रकट करना है। आवश्यकतानुसार नए शब्द गढ़े जाएँगे ; पर अनावश्यक (अजागलस्तन की तरह) एक भद्दापन बढ़ा लेना ठीक नहीं है। 'कार्य-क्रम' के लिए 'पुरोगम' बनाना एक नकलचीपन है। यदि ऐसा ही है,

तो सीधा 'प्रोग्राम' ले लीजिये ! इसी तरह 'अल्टीमेटम्' की शब्दानुकृति 'अन्तिमेत्थम् है एकदम भद्दी चीज ! अपने यहाँ 'अल्टीमेटम्' के लिए बहुत बढ़िया और चुस्त शब्द है—'चुनौती'। 'शत्रु की चुनौती हमने स्वीकार कर ली है।' इसकी जगह 'शत्रु का 'अन्तिमेत्थम्' हमने स्वीकार कर लिया है, कैसा लगता है ; सोच देखिए । 'चुनौती' एक चूना रखने की डिबिया भी होती है ; वह अलग चीज है । यह 'चुनौती' 'चूना' से सम्बन्ध रखने वाली नहीं, 'चुनाव' से सम्बन्ध रखने वाली है और 'चुनाव' भी 'निर्वाचन' नहीं ; 'एलेक्शन' नहीं ; 'सेलेक्शन' समझिए । दो चीजें सामने रख दी हैं—१—हमारी यह बात मानो, या फिर २—युद्ध के लिए तयार रहो । दो में से एक को चुनना है । यह 'चुनौती' दी गई है ।

ऐसे एक ही रूप के भिन्न शब्दों की भिन्नता न समझकर लोग चक्कर में पड़ जाते हैं और कोश-ग्रन्थों में लिख देते हैं ; परखना :—१—परीक्षा करना, २—प्रतीक्षा करना । अर्थात् 'परखना' शब्द के दो अर्थ हैं—परीक्षा करना एक—'सोना परखना जानते हो ?' और 'परखेउ मोहिं एक पखवारा' यह प्रतीक्षा करना दूसरा ! यह ऐसा ही समझिए ; जैसे कि बढ़िया सफेद सेंधा नमक का टुकड़ा चखकर और मिसरी की डली खाकर कोई कहे—'नमक दो तरह का होता है, एक नमकीन और दूसरा मीठा ! आस्वाद-भेद से पदार्थ-भेद न करना ऐसा ही है, जैसे अर्थ-भेद से शब्द-भेद न समझना । 'परखना' एक शब्द तो है 'प्रतीक्षा का विकास' जो इसी अर्थ में चलता है । दूसरा 'परखना' है, 'परीक्षा' का विकास, जिसकी प्रवृत्ति इसी अर्थ में है । दो अलग शब्द हैं । कभी-कभी ऐसे शब्द-भ्रम से बहुत बड़ा राष्ट्र-अहित हो जाता है ! हमारे यहाँ कुत्ते के बच्चे को 'पिल्ला' कहते हैं । दक्षिण भारत में 'पिल्ले' शब्द कोई महत्त्वपूर्ण गौरवात्मक अर्थ रखता है और इसीलिए वहाँ का एक वर्ग न जाने कब से अपने नाम के साथ इसे बड़े गर्व से लगाता आ रहा है । दो भिन्न शब्द हैं । परन्तु हिन्दी के एक बड़े भाषा-विज्ञानी ने दोनों को एक समझ लिया और अपने 'भाषा-विज्ञान' में लिख भी दिया कि इन दोनों शब्दों का निकास एक ही जगह से है । दक्षिण भारत के राष्ट्रभाषा-प्रेमियों को इससे बड़ा धक्का लगा ! राष्ट्रभाषा-द्वेषियों ने कहना शुरू किया कि उस भाषा को लेकर हम क्या करें, जहाँ हमें 'कुत्ते का बच्चा' कहा जाता है ?

पं० चन्द्रवली पांडे, पं० रामनारायण मिश्र तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी आदि का सद्भावना-मण्डल जब दक्षिण-भारत गया, तब वहाँ इन लोगों को 'पिल्ले' शब्द के कारण ही वैसा विरोध सहना पड़ा। किसी तरह समझाया गया ! यह इतना प्रासंगिक। मतलब यह कि 'चुनौती' को 'चूनादानी' समझकर ही लोग 'अन्तिमेत्थम्' चला रहे हैं। इन्होंने समझा, शत्रु को हम 'चूनादानी' थोड़े ही दे रहे हैं।

कभी-कभी लोक-प्रचलित शब्दों की ओर ध्यान न जाने से एक-एक शब्द के लिए प्राय: वाक्य लिखने पड़ते हैं। अंगरेजी में आने-जाने के मार्गों के लिए अलग-अलग दो शब्द हैं, जो स्टेशनों पर लिखे रहते थे। उनकी जगह अपने दो सुन्दर शब्द—

'आगमन' तथा 'निर्गमन'

बड़े सुन्दर हैं। परन्तु इनकी उपेक्षा करके लिखा गया है—

१—भीतर आने का रास्ता
२—बाहर जाने का रास्ता।

यह इसलिए होता है कि कोई किसी से पूछता नहीं है। जैसा मन में आया, लिख दिया। हमारे कनखल के पोस्ट-मास्टर ने पूछा—'डिलेवरी' के लिए कौनसा शब्द दें, हम लोगों से पूछा गया है। मैंने कहा, इसके लिए तो 'वितरण' प्रसिद्ध शब्द है। बहुत प्रसन्न हुए; बोले, "बहुत ठीक है। हम लोग तो सोच ही न पाए थे।" वस्तुत: उन बेचारों के सोचने की बात नहीं है। पर करें क्या ? ऊपर से पूछा गया, तो कुछ लिख भेजा ! इसी लिए गड़बड़ फैल रही है। और, हिन्दी का मजाक उड़ाया जा रहा है।

कहने का सारांश यह कि नए शब्द गढ़ने में भाषा की स्थिति पर विचार कर लेना चाहिए। छात्रों को चाहिए कि किसी ऐसे शब्द को ग्रहण न करें, जो भ्रामक जान पड़े।

कई शब्दों की बनावट बिगाड़ दी जाती है। जैसे—

१—'रजिस्ट्री' या 'रजिस्ट्री किया हुआ'

शुद्ध शब्द है—'रजिस्टरी'। 'रजिस्टर' एक संज्ञा है। उससे बना विशेषण—'रजिस्टरी'। जो चीज रजिस्टर में चढ़ा कर भेजी जाए, वह रजिस्टरी;

पत्र, कार्ड, पारसल, आदि । यह 'ई' प्रत्यय संज्ञा से विशेषण बनाने वाला है ; जैसे कानपुरी, इमारती, शरारती आदि । दूसरा 'ई' प्रत्यय भाव-वाचक संज्ञा बनाता है, जैसे 'खुश' से 'खुशी' और 'ठेकेदार' से 'ठेकेदारी' । 'रजिस्टर' से यह भाव-वाचक प्रत्यय लगाकर 'रजिस्टरी' भाव-वाचक संज्ञा बनती है । 'चिट्ठी रजिस्टरी' करा के भेजना ।' 'रजिस्टरी चिट्ठी भेजना' में 'रजिस्टरी' विशेषण है और 'इन सब चीजों की रजिस्टरी करा देना' में भाववाचक संज्ञा । 'रजिस्ट्री' तो सर्वथा गलत है और फिर 'रजिस्ट्री किया हुआ'– हनुमल्लाँगूल !

२—'अन्ताराष्ट्रिय' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय'

ये शब्द कितने भद्दे, निरर्थक तथा अनर्थकर हैं ; यह अन्यत्र विस्तार-पूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है । ऐसे ही प्रयोग के चलन का यह फल है कि हिन्दी के विद्वान् लोग 'अन्तर्देशीय पत्र' विदेशों को भेज देते हैं—'अन्तर्राष्ट्रीय' या 'अन्ताराष्ट्रिय' जो ठहरा—अपने ही देश में नहीं, दूसरे देशों को भी जाने वाला ! बैरंग होकर वापस आते हैं । यह 'अन्तर' के गलत प्रयोग का फल हैं । 'अन्तर्गृह' को ये लोग—'अपना तथा दूसरों का घर' अर्थ समझते होंगे और 'अन्तःस्थिति' का अर्थ—'सभी तरह की स्थितियाँ' । 'अन्तःकरण' को क्या समझेंगे ?

शुद्ध रूप है—'अन्तर-राष्ट्रीय' । (और, संस्कृत भाषा में 'अन्तर-राष्ट्रिया स्थितिः' ।) इसी तरह 'अन्तर-प्रान्तीय' 'अन्तर-विश्वविद्यालय' आदि समझिए। विशेष विवरण के लिए 'अच्छी हिन्दी का नमूना' पढ़िये, जहाँ विस्तार के साथ ऊहापोह किया गया है ।

३—'छः' तथा 'छै'

ये गलत रूप बहुत प्रचलित हैं । 'ह' की जगह संस्कृत के पण्डितों ने विसर्ग लिख दिए, एकोच्चारण के भ्रम से । हिन्दी में वह भेड़-चाल अब तक जारी है । वस्तुतः 'छह' शब्द है—'छहो' ! 'छः' की ही तरह 'छै' भी प्रमाद-सृष्टि है । 'छैओ आदमी आ गए' कौन लिखता-बोलता है ?

४—'२ रा' '४ था' आदि ।

'२ रा' तथा '३ रा' को लोग 'दो रा', 'तीन रा' पढ़ा लेते हैं और '४ था' को 'चार था' ! इसलिए ऐसा न लिखना चाहिए । इसी तरह 'वहाँ बड़े २ आदमी आए थे' को 'वहाँ बड़े दो आदमी आए थे' पढ़ा जा सकता है ।

'बड़े बड़े' लिखना चाहिए। '१ ला', '२ रा', '३ रा', आदि की जगह 'पहला', 'दूसरा', 'तीसरा', आदि चाहिये। 'दूसरा'-'तीसरा' आदि में क्या असुविधा है? इसी तरह 'पाँचवाँ' आदि चाहिए; पर 'छठवाँ' नहीं। 'छठी' होती है, 'छठवीं' नहीं। 'तेरहवीं' अवश्य होती है। 'छठी' को 'छठवीं' लिखना गलत है; इसी लिए 'छठवाँ' भी। संस्कृत के 'पञ्चमः' आदि से 'पाँचवाँ' आदि हैं और 'षष्ठः' से 'छठा'। तीन अक्षरों तक तो 'तीसवाँ', 'तेंतीसवाँ', 'चालीसवाँ' आदि लिखना चाहिए और आगे '२०५ वाँ' तथा '१००७ वाँ' आदि। 'हजारवाँ हिस्सा' तक तो 'वाँ' अक्षरात्मक संख्या चल सकती है; पर बीच में ही '६६६ वाँ' आदि में अङ्कात्मक लिखना होगा।

वाक्य के बीच में संख्या अक्षरों में तथा जोर देने के लिए अङ्कों में भी दी जा सकती है। कोई कांग्रेसी अखबार लिख सकता है—'चुनाव में कांग्रेस-उम्मीदवार को २०५७ मत मिले और प्रतिस्पर्द्धी को ढाई हजार।' साधारणतः '२०५७' की भारी-भरकम स्थिति प्रभाव डाल सकती है। यदि ऐसी बात न हो, तो बड़ी संख्या अक्षरों में ही लिखनी चाहिए। वाक्य में छोटी संख्या भी अक्षरों में ही अच्छी लगती है। कभी-कभी 'बड़े २ आदमी' में भ्रम भी हो हो सकता है—लोग 'बड़े-बड़े आदमी' भी पढ़ सकते हैं। इसलिए 'बड़े दो आदमी थे, शेष सब साधारण' ठीक रहेगा।

५—'लतायें', 'चाहियें' और 'विशेषतायें' आदि

'लतायें', 'शङ्कायें', आदि लिखना एकदम गलत है। 'एँ' बहुत्वबोधक प्रत्यय है, स्त्रीलिङ्ग में लगता है। यह 'यें' नहीं है कि 'लतायें' तथा 'शंकायें' आदि रूप बन जाएँ। अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के अन्त्य ('अ') का लोप हो जाता, है, जब सामने 'एँ' हो। तब रूप बनते हैं—सड़कें, रेलें, दीवारें, आदि। प्रत्यय 'यें' होता तो रूप बनते—'सड़क्यें' 'रेल्यें' 'दिवार्यें आदि। सो 'लतायें' आदि लिखना एकदम गलत है।

इसी तरह 'चाहिये', 'कीजिये', 'पढ़िये', आदि गलत समझिए—शुद्ध हैं—चाहिए, कीजिए, पढ़िए आदि।

अव्यय 'लिए' को भी लोग गलत 'लिये' लिखते हैं। 'राम के लिए यह कपड़ा नहीं है' चाहिए; पर लिख देते हैं—'राम के लिये'। यहाँ 'य' कतई अप्रामाणिक है। हाँ, 'लिया' क्रिया के बहुवचन में 'राम ने अच्छे कपड़े लिये'

लिखा जाए, तब तो कोई बात भी है—प्रमाणप्राप्त चीज है। यह दूसरी बात कि श्रुत न होने से 'य' उड़ जाए और 'लिए' भी चले', या 'लिए' ही एकरूपता के लिए चले। परन्तु उस अव्यय को 'लिये' लिखना कतई तर्क-संगत नहीं है। पहले कोई व्यवस्था ही न थी। जब व्यवस्था दी गई, तब कहा गया कि एक-रूपता होनी चाहिए, राष्ट्रभाषा में सरलता चाहिए। पर वह एकरूपता लाए कौन ? कैसे लाई जाए ! यह टेढ़ी खीर ! 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखते समय नए प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी। वहीं—

'जायगा', 'जायेगा', जावेगा'

प्रयोगों पर विचार किया गया, तो ये तीनों रूप गलत जान पड़े।

शुद्ध रूप—'जाएगा' जँचा।

कारण यह कि बीच के 'य' अथवा 'व' का कोई आधार ढूँढ़े न मिला। 'गा' एक सहायक क्रिया है, 'था' की तरह। इसके सहारे भविष्यत् काल की क्रिया बनती है, तब मुख्य क्रिया-धातु के आगे 'इ' प्रत्यय लगता है। अकारान्त धातु (कर, धर, पढ़ आदि) के 'अ' के साथ मिलकर यह 'इ' 'ए' के रूप में आ जाती है—करेगा, धरेगा, पढ़ेगा ; इत्यादि। शेष धातुओं से परे यह 'इ' स्वतः 'ए' बन जाती है—खाएगा, नहाएगा, जाएगा, आएगा, सोएगा ; इत्यादि। कोमल उच्चारण में लोग 'ए' को 'य' समझने लगे और लिखने लगे—'जायगा', 'नहायगा', आदि 'ए' का संस्कार भी रहा ; सो, मिश्रित रूप चल पड़े-'नहायेगा', 'आयेगा', इत्यादि। 'आवेगा' आदि भी चल पड़े ! पर शुद्ध वही—'आएगा' है ! जबकि यहाँ 'य' या 'व' की कोई बात ही नहीं, जबकि अव्यय 'लिए' तथा 'चाहिए' आदि में 'य' है ही नहीं और जबकि 'गयी'-'गये' आदि में 'य' का लोप विकल्प से है ही, तब सर्वत्र–'जाएगा', 'जिएगा', 'रुपए लिए', आदि एक-रूप प्रयोग हों, तो हर्ज क्या ? इसी एकरूपता का प्रदर्शन करने के लिए इस पुस्तक में सर्वत्र ध्यान रखा गया है ; पर बड़ी सावधानी रखनी पड़ी है।

यदि एकरूपता लानी है, तो निश्चित दिशा यही है और प्रामाणिक भी। हिन्दी-संसार पसन्द करेगा, तो यह एकरूपता। अन्यथा, वह अनेक-रूपता कुछ बुरी भी नहीं–'राम आएगा' और 'बच्चे आये थे' चलें। संस्कृत तत्सम 'स्थायी' 'वाजपेयी' आदि चलेंगे—'गई' हो जाने पर भी। हाँ, तद्भव 'थाई'—'वाजपेई' जरूर रहेंगे 'गीध धौं कहाँ को बाजपेई !'

इसी तरह 'मृतप्राय' को 'मृतप्रायः' लिखा जा रहा है ! सोचते हैं, 'प्रायः' के विसर्ग तो लिखने ही चाहिए !

यह तो हुई अशुद्ध लिखने की चर्चा ; अब यह भी देखिए कि शुद्ध शब्दों के प्रयोग गलत अर्थों में किस तरह हो रहे हैं ! 'फुटकर' के अर्थ में लोग' 'स्फुट' लिख रहे हैं ! 'स्फुट' का अर्थ है 'स्पष्ट'—'स्फुटता न पेदैरपाकृता' ! अपने यहाँ 'फुटकर' विद्यमान है, तब फिर 'स्फुट' को इस तरह गलत अर्थ में चलाना और भी बुरा ! कुछ शब्द और लीजिए—

१—सूक्ष्म, संक्षिप्त और स्वल्प

इन तीन शब्दों का प्रयोग बहुत गलत किया जा रहा है—'भाई, कुछ सूक्ष्म ही भोजन करूँगा', 'संक्षिप्त ही प्रबन्ध है', इत्यादि लोग गलत बोलते-लिखते हैं। ऐसी जगह 'अल्प' अथवा 'स्वल्प' का प्रयोग चाहिए। 'अल्पाहार' और 'आहार की अल्प मात्रा' होती है—'सूक्ष्माहार' या 'संक्षिप्ताहार' नहीं। 'सूक्ष्म' तो 'छोटे' अर्थ में आता है। 'स्वल्प' या 'अल्प' आता है—'थोड़े' अर्थ में। 'सूक्ष्म कण दिखाई नहीं देते'। 'संक्षिप्त' या संक्षेप' का प्रयोग भाषा या शब्दों के लिए होता है—'संक्षिप्त वाक्य हों अर्थ से भरे हुए'। 'विहारी ने संक्षेप में बात कहने में हद कर दी है।'

यों तीनों शब्दों का प्रयोग अलग-अलग होता है। इनमें साङ्कर्य करना ठीक नहीं।

२—'नागरिक'-शास्त्र

'नागरिक शास्त्र' की पुस्तकों में 'नागरिक' शब्द का अर्थ 'शहरी' पर्य्याय से बताया जाता है, जो गलत है। यहाँ 'नगर' शब्द का अर्थ 'शहर' ही नहीं, 'बस्ती'-मात्र है। 'नागरिक जीवन' का अर्थ है—'बस्तीदारी का जीवन'। इससे उलटा 'जंगली जीवन'। सो, इस जगह 'नागरिक' शब्द का अर्थ है—'बस्ती-दार' ; 'शहरी' नहीं। 'नागरिक शास्त्र' में जो कुछ बताया जाता है, वह सब शहरी ही लोगों के लिए नहीं है ; कस्बों और गावों में रहने वालों के लिए भी है। नागरिकता का उद्भव शहरों से नहीं, गावों से हुआ है। 'नगर' सामान्यतः बस्तीमात्र को भी कहते हैं और बस्ती-विशेष (शहर) को भी। जहाँ जैसा प्रयोग हो। 'मृगाक्षी' में 'मृग' शब्द पशु-विशेष के लिए है और 'मृगराज' में

(मृग) शब्द बनैले पशु-मात्र के लिए । यही स्थिति द्विधा प्रयोग में 'नगर' की। 'नागरिक' शब्द 'सभ्य' या 'शिष्ट' का पर्य्याय बन गया है।

३—'पात्र' और 'अभिनेता'

लोग अभिनेताओं के लिए 'पात्र' शब्द का प्रयोग कर देते हैं और उसके ऊपर दुहरी मूर्खता यह कि स्त्री-'पात्रों' को 'पात्री' लिख देते हैं ! 'रत्न' और 'रत्नी' समझिए ।

'कृष्णार्जुन-युद्ध' में पात्र हैं—नारद, कृष्ण, तथा सुभद्रा आदि । नाटक का जब प्रयोग हो—जब नाटक खेला जाए—तो नारद आदि का अभिनय करने वाले 'अभिनेता' । अभिनय करे, सो अभिनेता । किसका अभिनय ? नाटक के पात्र-विशेष का ।

४—'अभिनय' और 'प्रयोग'

एक-एक पात्र की अलग-अलग अनुकृति को 'अभिनय' कहते हैं और सम्पूर्ण नाटक के अभिनय को या अभिनय-समिष्ट को 'प्रयोग' कहते हैं । 'कृष्णार्जुन युद्ध' का सफलता-पूर्वक प्रयोग वहाँ हो सका ; क्योंकि सुभद्रा का अभिनय 'बेढब' जी ने किया था और कृष्ण का पं० सीताराम चतुर्वेदी ने ।'

साधारणतः 'प्रयोग' के अर्थ में भी 'अभिनय' लोग लिख देते हैं ; जैसे 'भोजन बनाने' को 'कढ़ी बनाना' कहा जाए; या 'दाल' अथवा 'रोटी' बनाना !

५—'शरत्कालीन अधिवेशन'

अखबार छापते हैं–'दिसम्बर के मध्य से संसद् का शरत्कालीन अधिवेशन शुरू होगा !'

चाहिए—'शीतकालीन' । 'शरद्' ऋतु तो वर्षा तथा जाड़े के बीच की चीज है ।

६—'कविराज' से दवा लाओ !

बंगाल में वैद्यों को 'कविराज' कहते हैं । उन्हीं की देखा-देखी हिन्दीभाषी वैद्य भी अपने बोर्ड में, मोटे अक्षरों में—'कविराज पं० भुवनचन्द्र जोशी' यों लिखते हैं ! लोग समझते हैं, किसी बड़े कविजी का घर होगा ! रोगी कविता सुनकर क्या करे ? अप्रसिद्ध अर्थ में शब्द का प्रयोग करने से लाभ क्या ? 'वैद्यराज' लिखा जाए, तो कोई भ्रम न हो ।

७—'कांग्रेस के 'गैरसरकारी' प्रस्ताव'

अखबार लिखते हैं--"कांग्रेस के इस अधिवेशन में कुछ प्रस्ताव 'गैर-सरकारी' भी रखे गए थे, जिन पर विचार ही नहीं किया गया ; या रद कर दिए गए।"

ऐसा जान पड़ता है कि केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारें कांग्रेस में प्रस्ताव रखती हैं और उनके रखे हुए प्रस्ताव पास हो गए ; किन्तु 'गैरसरकारी' या जनता के द्वारा रखे गए प्रस्तावों की वह गति हुई ! परन्तु यह सब गलत है। न कोई सरकार कभी कांग्रेस में कोई प्रस्ताव रख सकती है, न कभी ऐसा हुआ ही है और न कांग्रेस सरकारी प्रस्ताव रखने की जगह ही है। सरकारी प्रस्तावों के रखने की जगह 'संसद' है और 'विधान-सभाएं' हैं। इसलिए वैसा लिखना गलत है। अमरीका की सरकार जरूर 'कांग्रेस' में प्रस्ताव रखती है—वहां की संसद का नाम 'कांग्रेस' है। वैसा हमारे यहाँ लिखने वालों का मतलब यह होता है कि 'कांग्रेस-कार्यकारिणी के द्वारा भेजे गए प्रस्ताव पास हो गए और व्यक्तिगत रूप से सदस्यों के द्वारा रखे गए प्रस्तावों पर विचार नहीं हुआ ; विचार हुआ भी, तो अन्ततः वे रद कर दिए गए।' परन्तु 'सरकारी' तथा 'गैरसरकारी' लिखने से भ्रम पैदा होता है। कांग्रेस, हिन्दू-महासभा, या समाजवादी दल की कार्यकारिणी समितियाँ 'सरकार' या 'सरकारें' नहीं हैं कि वैसा लिखा जाए। लोग 'आफ़िसियल' तथा 'नान-आफ़िसियल' का अनुवाद 'सरकारी' और 'गैरसरकारी' कर देते हैं, जो गलत है। 'संसद' या किसी 'विधानसभा' की कार्यवाही का वर्णन करते हुए उन शब्दों का वैसा अनुवाद करना चाहिए ; किसी गैरसरकारी संस्था के वर्णन में नहीं। 'कांग्रेस कार्य-कारिणी के प्रस्ताव' तथा 'सदस्यों के व्यक्तिगत प्रस्ताव' लिखना चाहिए। इनके लिए शब्द गढ़ने हैं ; तो गढ़िए ; परन्तु अर्थ-विशेष में रूढ़ 'सरकारी' तथा 'गैरसरकारी' शब्दों का वैसा उपयोग अनुचित है—दण्डनीय भी होना चाहिए।

८—'अनियमित' बैठक

लिखा जाता है—'कार्यकारिणी के सदस्यों की एक अनियमित बैठक हुई।' कोई लिखते हैं—'अनौपचारिक बैठक हुई।'

यहाँ 'अनियमित' तथा 'अनौपचारिक' ये दोनों शब्द ठीक नहीं हैं। 'अनियमित' का अर्थ है—'नियम-विरुद्ध' जैसे 'अधर्मी' का अर्थ—'धर्म-विरुद्ध' क्या ऐसा कहना अभीष्ट है ?

'अनौपचारिक' प्रयोग भी गलत है। वस्तुतः लिखना चाहिए—'कार्य-कारिणी के सदस्यों की एक औपचारिक बैठक हुई'। इसका मतलब यह हुआ कि आपसी ढँग पर विचार-विनिमय हुआ, जो संस्था की विधिवत् कार्रवाई नहीं। 'विधिवत् कार्रवाई नहीं' और 'अवैध कार्रवाई है' में अन्तर है। वैध नहीं, या विधवत् नहीं ; इसे 'अवैध' या 'अनियमित' नहीं कह सकते।

'उपचार' कहते हैं 'गौण' को। 'उपचार' से 'औपचारिक' बना। 'अनौपचारिक' तो उलटा हो गया !

सो, 'अनियमित' या 'अनौपचारिक' ऐसी जगह लिखना गलत है।

९—'उपहार-गृह'

स्टेशनों पर तथा बाजारों में 'उपहार-गृह' के बोर्ड लगे देखे जाते हैं, जो गलत हैं। 'उपहार' तो 'भेंट' को कहते हैं। यहाँ चाहिए—'उपाहार-गृह'। हलका आहार—उपाहार, 'जलपान' या 'चायपानी'। 'उपाहार' को ही 'उपहार' लिख दिखा जाता है—'कोयला' और कोयल' का भ्रम !

स्टेशनों पर 'सामिष उपाहार-गृह' की जगह प्रायः 'आमिष उपाहार-गृह' लिखा रहता है, जो गलत है। 'आमिष' तो संज्ञा है, विशेषण नहीं। समास में 'सामिष' हो जाने से 'आमिष' अलग न रहेगा और जनता समझ न पाएगी ; इसलिए केवल 'आमिष' रखा जाता है ; यह कहना भी गलत है। जो 'आमिष' समझ लेगा, वह 'सामिष' भी समझ लेगा। वस्तुतः साधारण जनता के लिए 'आमिष' समझना कठिन है। 'मांस' प्रचलित शब्द है। बोर्ड पर लिखना चाहिए—

'मांसभोजी उपाहार-गृह'

मांस-रहित उपाहार-गृह के आगे कोई विशेषण लगाना आवश्यक नहीं। केवल—

'उपाहार-गृह'

चाहिए। मतलब यह कि साधारण उपाहार-गृह है। सामान्य या साधारण में विशेषण की जरूरत नहीं। 'साधारण' विशेषण भी ठीक नहीं ; क्योंकि उससे समझा जाएगा कि घटिया दर्जे की चीजें यहां होंगी। 'शाक-उपाहारगृह' तो और भी रद्दी।

१०—'निराशा की झलक'

ऐसा प्रयोग है, जैसे 'अन्धकार की झलक' ! 'झलक' बड़ा सुन्दर शब्द है

और आशास्य वस्तु को आता देख इसका प्रयोग किया जाता है। 'आशा की झलक' ठीक है। परन्तु 'दीवाली पर आर्थिक संकट की झलक' लिखना एकदम बेहूदापन है। 'आभास' चाहिए।

११—'आप अशुद्ध बोलते हैं कि कांग्रेस ने अंग्रेज को भगाया'

यहाँ 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग एकदम अशुद्ध है। हमने 'सम्मेलन' के मंच से एक बहुत बड़े व्यक्ति के मुँह से ऐसे स्थल पर 'अशुद्ध' शब्द बार-बार सुना है, जो उस 'हिन्दुस्तानी' नाम की खिचड़ी भाषा की प्रतिक्रिया से कदाचित् पैदा हुआ हो। हम लोग साधारणतः बोलते-लिखते हैं—'आपका यह कहना गलत है कि हम रूढ़िवादी हैं।' साथ ही यह भी कहते हैं—'हिन्दी में 'अन्ताराष्ट्रिय' शब्द एकदम गलत है।' यों 'गलत' शब्द का उभयत्र प्रयोग है। परन्तु 'शुद्ध' या 'अशुद्ध' के प्रयोग में अन्तर है। 'गलत' के लिए सब जगह 'अशुद्ध' नहीं कह सकते। 'हिन्दी में 'अन्ताराष्ट्रिय' शब्द एकदम अशुद्ध है, ठीक ; परन्तु 'आप अशुद्ध बोलते हैं कि कांग्रेस ने अंग्रेज को भगाया' यहाँ 'अशुद्ध' एकदम अशुद्ध प्रयोग है। यहाँ 'असत्य', 'झूठ', 'मिथ्या', 'अतथ्य', आदि कोई शब्द चाहिए। झोंके में 'अशुद्ध' दे देना ठीक नहीं है। यहाँ 'अशुद्ध' तथा 'असत्य' का विषय-भेद है।

१२—'तब मैं सभापति को मिला'

प्रयोग किये जाते हैं—

१—तब मैं सभापति को मिला।
२—सभापति को मिल कर मैं कलकत्ते गया।
३—मैं तुमको जरूर मिलूँगा। इत्यादि।

ये गलत प्रयोग हैं। 'मिलना' क्रिया एक तो है 'संगम' के अर्थ में और एक है 'प्राप्त होना' अर्थ में। दोनों के प्रयोग में हिन्दी ने अन्तर किया है, जिससे भ्रम न हो। 'संगम' के अर्थ में यों प्रयोग शुद्ध हैं—

१—तब मैं सभापति से मिला।
२—सभापति से मिलकर मैं कलकत्ते गया
३—मैं तुमसे जरूर मिलूँगा।

अर्थात् जिससे मिलना हो, उसमें 'से' विभक्ति लगती है। परन्तु जब 'प्राप्त होना' अर्थ की 'मिलना' क्रिया हो, तब कर्ता कारक में 'को' विभक्ति लगती है

और जो कुछ मिले, उस ('कर्म') में कोई विभक्ति नहीं लगती। यहाँ क्रिया **कर्म-वाच्य** रहती है—

१—मुझे (या मुझको) एक थैली मिली।

२—रमा को एक लिफाफा मिला।

३—लड़कों को मिठाई मिली।

सर्वत्र 'मिलना' कर्म-वाच्य में है—'कर्म' के अनुसार क्रिया प्रायः कर्तृ-वाच्य देखी जाती है और जिससे मिलना हो, उसमें 'से' विभक्ति लगती है—

१—**रमा** अपने पति से **मिली**।

२—**पति** अपनी स्त्री से **मिला**।

३—**लड़के** छुट्टियों में घर जाकर मा से **मिले**।

परन्तु यदि मानव में स्पृहा का आधिक्य हो और उसका मिलना एक अलभ्य लाभ समझा जाए, तो इसके लिए भी वही लाभार्थक 'मिलना' क्रिया (गौणरूप से) प्रयुक्त हो सकती है—

१—रमा को उसका पति मिला, जानो सब कुछ मिला।

२—पति को उसकी स्त्री मिल गई।

३—लड़कों को उनकी मा मिल गई।

सर्वत्र 'कर्ता' में 'को' विभक्ति लगी है और क्रिया कर्म-वाच्य है। 'मिलना' यहाँ है 'प्राप्त होना'।

इस तरह समान-रूप इन दो क्रियाओं का पृथक्-पृथक् क्षेत्र-अधिकार है।

सो, 'मैं राम को मिलने प्रयाग न गया था' गलत है। चाहिए—'मैं राम से मिलने प्रयाग न गया था।'

१३—'महासभा साम्प्रदायिकता फैलाती है'

यहाँ 'साम्प्रदायिकता' का गलत प्रयोग है। 'सम्प्रदाय' कहते हैं—मत-मजहब को। एक सम्प्रदाय या मत-मजहब का कोई एक प्रवर्तक होता है, उसका एक प्रधान धर्मग्रन्थ होता है, उसकी एक विशिष्ट परम्परा होती है; जैसे जैन, वैदिक, आर्यसमाज, सिख आदि। 'महासभा' हिन्दूपन फैलाती है और 'हिन्दूपन' साम्प्रदायिकता की परिभाषा में नहीं आता है। 'हिन्दू' कोई मत-मजहब नहीं, सम्प्रदाय नहीं; क्योंकि 'हिन्दू' का कोई एक धर्म-ग्रन्थ नहीं, हिन्दू-'सम्प्रदाय' चलाने वाला कोई एक प्रवर्तक नहीं। इसलिए 'हिन्दू' 'सम्प्रदाय' नहीं; एक 'जाति' का नाम है। इस जाति में जैन, वैष्णव,

आर्यसमाज आदि न जाने कितने सम्प्रदाय या मत-मजहब हैं। वैष्णव या आर्यसमाज आदि के सिद्धान्तों का प्रचार करना 'महासभा' का काम नहीं है। वेद को माने सो हिन्दू और वेद को न मानकर खण्डन करने वाला भी हिन्दू ! ईश्वर-भक्त हिन्दू और अनीश्वरवादी भी हिन्दू। मांसभोजी भी हिन्दू और पूर्णतः शाकाहारी भी हिन्दू। 'हिन्दू' नाम से गौरव का अनुभव करने वाला अपने को जिस महावर्ग के साथ अनुभव करता है, उसी के साथ अपने को 'हिन्दू' से भिन्न कहने वाला भी अनुभव करता है—इसलिए 'हिन्दू' न कहकर 'हिन्दुस्तानी' कह लो। नरेन्द्र सिंह (**हिन्दू**) **राजपूत** हिन्दुस्तानी और (**गैर हिन्दू**) **नरेन्द्र सिंह सिख** भी हिन्दुस्तानी। नरेन्द्र दत्त जैन भी हिन्दुस्तानी और नरेन्द्र दत्त आर्यसमाजी भी हिन्दुस्तानी। रामदत्त ब्राह्मण भी हिन्दुस्तानी और रामदत्त भंगी भी हिन्दुस्तानी। ईश्वरवादी नृपेन्द्र भी हिन्दुस्तानी और अनीश्वरवादी मानवेन्द्र भी हिन्दुस्तानी। यों हिन्दुस्तानी एक जाति है, सम्प्रदाय नहीं। इस जाति के संगठन की बात करना 'जातीयता' है, 'साम्प्रदायिकता' नहीं।

जो लोग इस जाति में अन्तर्भुक्त नहीं होते, हिन्दुस्तान में पैदा होकर, रहकर और यहीं मरने पर भी उपर्युक्त 'हिन्दुस्तानी' या 'भारतीय' जाति में नहीं, वे अलग समझे जाते हैं। सम्प्रदाय या मत-मजहब के कारण यह अलगाव हो सो बात नहीं है। मत-मजहब तो हिन्दुस्तानी जाति में अनन्त हैं। लोग अपनी 'जातीयता' पृथक् रखने के कारण पृथक् अपने को अनुभव करते हैं। सो, 'महासभा साम्प्रदायिकता की बात करती है' कहना गलत है। कहना चाहिए— 'महासभा जातीयता की जड़ मजबूत करती है।'

अर्थात् 'सम्प्रदाय' या 'साम्प्रदायिकता' का गलत प्रयोग हो रहा है। उसकी जगह 'जाति' तथा 'जातीयता' चाहिए। एक जाति का व्यक्ति या समूह किसी दूसरी जाति में मिल भी सकता है और यों एकता पैदा की जा सकती है। यह तभी हो सकता है, जब मिलने वाला व्यक्ति या समूह प्रथम गृहीत 'जातीयता' छोड़ दे। मजहब छोड़ने की जरूरत नहीं। शक, हूण, द्रविड़, आर्य, आदि अनेक जातियों का संगम आज की 'हिन्दुस्तानी' या 'भारतीय' जाति है। शकों और हूणों का तो नाम भर रह गया है। द्रविड़ जरूर अपने द्रविड़त्व का गर्व रखते हैं; पर ऐसे घुल-मिल गए हैं कि नाम भर को पृथक् हैं। राम, कृष्ण आदि नाम हमारे भी, उनके भी ! दीपावली-दसहरा आदि त्यौहार

हमारे भी, उनके भी । वे हमारे हाथ का भोजन करते हैं, हम उनके हाथ का । फिर भी हम आर्य और वे द्रविड़—दोनों हिन्दुस्तानी ।

जो हिन्दुस्तानी भाषा में अपने नाम तक नहीं रखते, जो यहाँ के दसहरा-दीपावली आदि त्यौहार न मानकर न जाने कहाँ के त्यौहार मानते हैं, जो इस देश की संस्कृति से पूर्ण संस्कृत भाषा से कुढ़ते हैं और विदेशी भाषाओं को अपनी सांस्कृतिक भाषा मानते हैं, वे किसी दूसरी जाति के हैं । वे अपने नाम तक इस देश की भाषा में नहीं रखते हैं । वे हमारी जाति के नहीं—हिन्दुस्तानी नहीं ।

सो, 'सम्प्रदाय' का प्रयोग 'जाति' के अर्थ में न करना चाहिए ; गलत है वैसा करना ।

१४—'राष्ट्र' नहीं, 'जाति'

अंग्रेजी के 'नेशन' का अनुवाद हिन्दी में 'राष्ट्र' चल रहा है ; चलाया जा रहा है, जो गलत है । 'नेशन' का ठीक अनुवाद है 'जाति' । 'कंट्री' का अनुवाद है—'राष्ट्र' । 'नेशनेलिटी' का अनुवाद सही है—'जातीयता', न कि 'राष्ट्रीयता' । 'राष्ट्र' का अर्थ देश है ।

'जाति' तथा 'सम्प्रदाय' का भेद स्पष्ट है । सम्प्रदाय या मत-मजहब बदलने से जातीयता बदल नहीं जाती, यदि उसे जान-बूझकर बदला न जाय । जापान ने हमारे भारत का बौद्ध मत ग्रहण किया ; परन्तु अपनी जातीयता ज्यों की त्यों रखी । यह नहीं किया कि बौद्ध मत के साथ भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज या पर्व-त्यौहार भी ग्रहण कर लिए हों । यह सब उनका अपना है । वे अपनी ही भाषा में बुद्ध के उपदेश पढ़ते हैं और अपनी ही भाषा में बौद्ध उपासना का अवलम्बन करते हैं । बौद्ध जापानियों के नाम 'धर्मदत्त' तथा 'सुशीला' आदि नहीं होते ; उनकी अपनी भाषा में तदर्थक नाम होते हैं । 'बुद्ध' नाम पर भी वे अपने नाम नहीं रखते ; क्योंकि यह शब्द उनके लिए एक विदेशी (भारतीय) भाषा का है । 'बुद्ध' का नाम भी उन्होंने अपनी भाषा में अलग रख लिया है । यही दशा वहाँ के ईसाइयों की भी है । जापान का अपना पुराना 'धर्म' या सम्प्रदाय भी चल रहा है । परन्तु इन सभी सम्प्रदायों का रहन-सहन, पर्व-त्यौहार, वेश-भूषा आदि समान है । यही समानता वह सूत्र है, जिससे 'जाति' बनती है ।

चीन में भी यही स्थिति है। चीनी बौद्ध ने चीनी जातीयता नहीं बदली है। वहाँ शिन्तो, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान, सब एक जाति के हैं—चीनी। मुसलमान 'अब्दुल गफूर' नहीं, 'चांग ते पू' आदि होता है। यही स्थिति ईसाइयों की है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा तथा तिथि-त्यौहार, सब एक ! एक जाति जो ठहरी।

भारत के ईसाई प्रायः भारतीयता नहीं छोड़ते। ईसाई बच्चों के नाम—'प्राणनाथ राव' तथा 'नरेन्द्र दत्त मुखर्जी' जैसे शुद्ध भारतीय होते हैं। बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्री महाराज सिंह ईसाई हैं। बंगाल के गवर्नर श्री हीरेन्द्र चन्द्र मुखर्जी भी ईसाई हैं। आपको और आपकी धर्म-पत्नी को मैंने देखा; वस्तुतः ब्राह्मण-दम्पति। वेश-भूषा भारतीय, रहन-सहन भारतीय। ये 'ईसाई ब्राह्मण; मैं वैदिक ब्राह्मण हूँ। वर्ग एक, मत-मजहब भिन्न। केन्द्रीय स्वास्थ्य-विभाग का मंत्रि-पद श्री अमृतकौर को प्राप्त है, जो जन्मना ईसाई महिला हैं। 'कांग्रेस' के प्रथम अध्यक्ष श्री व्योमेशचन्द्र चक्रवर्ती भी ईसाई थे। बंगाल भाषा के सुप्रसिद्ध कवि—'मेघनाद-वध' के प्रणेता—श्री मधुसूदन दत्त भी ईसाई थे। यानी ये सब 'भारतीय ईसाई हैं—ईसाई मत लिया है इन्होंने, अपनी भारतीय 'जाति' नहीं छोड़ दी है।

कुछ लोग मत के साथ-साथ 'जाति' भी बदल देते हैं। एक कुल में उत्पन्न बच्चा दूसरे कुल में 'गोद' चला जाता है, तब वह उसी कुल के पुरखों को मानने लगता है—उसी कुल के रीति-रिवाज भी मानता है। इसी तरह 'जातीयता' भी बदल जाती है, यदि बदलना हो। अन्यथा, मत या सम्प्रदाय के परिवर्तन से जाति ज्यों की त्यों रहती है। इस्लाम ग्रहण करके भी चीन के करोड़ों जनों ने अपनी ('चीनी') जाति नहीं बदली; किन्तु भारतीय मुसलमानों ने अपनी जातीयता बदल दी ! ये अरब तथा ईरान आदि की जातीयता अपना चुके हैं। परन्तु चाहे जब उसे छोड़कर अपनी पुरानी जाति में आ सकते हैं—'भारतीय' बन सकते हैं। अभी ये सब 'भारतवासी मुसलमान' हैं। जब 'अल्लाबख्श' 'ईश्वरदत्त' बन जाएगा और दीपावली के दिन अपनी मस्जिद को जगमगाते हुए दीपों से सजाकर उसमें इस त्यौहार की एक विशेष 'नमाज' अपनी राष्ट्रभाषा में पढ़ेगा, तब वह 'भारतीय मुसलमान' होगा। तब वैदिक सम्प्रदाय का 'ईश्वरदत्त' और इस्लाम-भक्त 'ईश्वरदत्त' एक 'जाति' के हो जाएँगे।

जाति, सम्प्रदाय तथा राष्ट्र का भेद समझाने के लिए इतना लिखना पड़ा; क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग बिल्कुल गलत हो रहा है।

इस तरह कुछ शब्दों की चर्चा की गई। इससे पहले मैंने अपनी 'लेखन-कला' में कुछ शब्दों की चर्चा की थी और गलत प्रयोग तथा विकृत शैली से भाषा को बचाने के लिए उद्योग किया था। वह उद्योग सफल हुआ। उन शब्दों के प्रयोग ठीक होने लगे, शब्दों का लेखन भी ठीक चला और विकृत शैलियों का भी परित्याग हुआ। परन्तु आगे फिर नया कूड़ा-कचरा आ गया। 'अच्छी हिन्दी का नमूना' उसे साफ करने के लिए लिखा गया। इस पुस्तक में कुछ दूसरे ही शब्द दिए गए हैं, जो इस समय धमा-चौकड़ी मचा रहे हैं। इसी तरह, संसार के दूसरे कामों की तरह, विकार और परिष्कार की यह आँख-मिचौनी भाषा में या साहित्य में चलती रहेगी। मानव-समाज जहाँ रहेगा, विकार स्वाभाविक है और उसका परिष्कार भी होता है। मा ने आँगन साफ किया; बच्चों ने फिर कूड़ा फैला दिया! फिर साफ करना होगा। यही स्थिति भाषा की है। यह भी व्यवहार की चीज है। व्यवहार से कोई भी चीज विकृत हो सकती है। उसका फिर परिष्कार सुधार करना होगा।

शब्दों का उचित प्रयोग

पहले अध्याय में महाकवि भारवि की भाषा-सम्बन्धी सूक्तियों की व्याख्या करते समय यह कहा गया था कि अच्छी भाषा के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक शब्द का ही प्रयोग किया जाए। अनावश्यक एक शब्द या एक मात्रा भी खटकती है।

उदाहरण के लिए :—

'जाता हूँ, तो घर पर कोई नहीं और नहीं जाता, तो काम बिगड़ता है।

'जाता हूँ, और 'नहीं जाता' देखिए। 'नहीं जाता' में 'हूँ' सहायक क्रिया जरूरी है, जो 'जाता हूँ' से उठकर यहाँ भी आ जाती है—'जाता' से वह बँधी हुई तो नहीं है न! 'नहीं जाता हूँ' लिखा जाए, तो व्याकरण उसे गलत न कहेगा; परन्तु वह 'सुप्रयोग' न समझा जाएगा। शब्द का सम्यग् ज्ञान व्याकरण से और उसका सम्यक् प्रयोग लेखन-कला या साहित्यशास्त्र से आता हैं। सो, 'नहीं जाता' ही अच्छा, 'नहीं जाता हूँ' नहीं। परन्तु उस 'हूँ' को

वहाँ से उठाकर यहाँ 'नहीं जाता' के साथ रख दें, तो ? तो भी तो वह यहाँ आकर—'जाता' के साथ लगकर—पूरा काम कर सकता है न ? फिर ऐसा क्यों नहीं होता ? इसलिए नहीं होता कि कोई भला आदमी समान मित्रों को मिठाई परोसता हुआ क्रम रखेगा। पहले को छोड़कर दूसरे के पास न चला जाएगा। पहले पहला, फिर दूसरा। यही स्थिति यहाँ है। 'हूँ' प्रथम क्रिया के साथ ही ठीक है। इसका स्थान बदलेगा नहीं।

एक बात और। यहाँ कर्ता कारक ('मैं') का प्रयोग हुआ ही नहीं है ! क्या यह ठीक है ? जी, यहाँ यही ठीक है। इसलिए ठीक है कि 'मैं' की जरूरत ही नहीं। 'हूँ' सब काम कर देता है। 'जाता हूँ' का कर्ता 'मैं' के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। जब यह सुनिश्चित है, तब फिर 'मैं' का प्रयोग व्यर्थ ! हाँ, यदि जोर देना हो, तब 'मैं' का देना आवश्यक हो जाएगा—'मैं कहता हूँ कि तुम अभी चले जाओ।' यहाँ 'मैं' जरूरी है। केवल 'कहता हूँ' कर देने से जोर न रहेगा; यद्यपि कर्तृ-भ्रम कतई न होगा।

इसी तरह—

'ये बादल बरसेंगे जरूर।'

यहाँ 'कर्म' कारक नहीं दिया गया है। 'बरसना' क्रिया सकर्मक है। बादल क्या बरसेंगे, नहीं बतलाया गया। इसलिए नहीं बतलाया गया कि जगत्प्रसिद्ध है—बादल पानी बरसते हैं। 'बरसते' को ही 'बरसाते' भी कह देते हैं। सो, 'कर्म' प्रसिद्ध होने से वाक्य में शब्दशः प्रयुक्त नहीं हुआ। यदि कोई कहे—'बादल पानी जरूर बरसेंगे' तो भला न लगेगा।

इसी तरह—

'राम मुहँ से रोटी खाता है'

आदि में 'करण' आदि का व्यर्थ प्रयोग भद्दा लगता है। सभी जानते हैं कि रोटी खाने का करण मुँह है। हाँ, कोई विशेष बात कहनी हो, तब शब्दशः इसका प्रयोग किया जा सकता है—

'राम अपने पोपले मुहँ से पान चबाने लगा,
तो पीक बाहर आकर झाँकने लगी।'

यहाँ 'पोपला' विशेषण देने के लिए 'मुहँ' का देना आवश्यक है।

इसी तरह अपादान तथा अधिकरण आदि का अनावश्यक प्रयोग भद्दा लगता है।

सम्बोधन में अनावश्यक 'हे' आदि का प्रयोग न करना चाहिए—'राम, तुम अब पढ़ने तुरन्त जाओ'। 'हे राम' अच्छा न रहेगा। परन्तु 'हे राम नारायण वासुदेव' में 'हे' ठीक है। अवज्ञा या क्रोध प्रकट करने के लिए 'रे' किंवा 'अरे' का प्रयोग जरूरी है।

'रे नृपबालक कालबस !'
'अरे नीच, तू बाज न आएगा ?'

प्यार प्रकट करने के लिए ब्रजभाषा में 'एहो' प्रायः दिया जाता है—

'एहो प्रानप्यारे ! बजमारे प्रान ना गए !'

यह तो हुई 'हे' तथा 'अरे' आदि अव्ययों की बात, जो संबोधन में आकर विविध भाव प्रकट करते हैं; पर इस (संबोधन) के लिए शब्दों का चयन भी भावानुरूप ही करना चाहिए; आँख बन्द करके किसी की नकल न करनी चाहिए। 'सुनो सुनो ऐ दुनियावालो, बापू जी की अमर-कहानी।' यहाँ संबोधन 'दुनियावालो' ठीक नहीं। आत्मीयता नहीं प्रकट होती, एक 'चेलेंज'-सा लगता है। 'सुनो सुनो भारत के बच्चो' अधिक अच्छा रहता। कहानी बच्चों को ही सुनाई जाती है। भूतकाल की घटना कहानी हो जाती है। जिसने यह संबोधन दिया, अपनी बुद्धि से काम न लिया; नकल भर कर डाली ! कहीं सुना—'सुनो सुनो ऐ दुनियावालो, भारतवर्ष हमारा है' तो संबोधन बढ़िया लगा। चीज ही ऐसी है। एक ललकार है। 'दुनियावालो' उन्हीं को कहा गया है, जो हम पर लदे हुए थे ! इसीलिए परकीयत्व की व्यंजना अच्छी है। जो चीज यहाँ अच्छी है, वही अन्यत्र जाकर नीरस क्या, 'विरस' हो गई है ! 'सुनो विश्व के जन जन प्यारे' ठीक रहता।

शब्दों पर जोर

वाक्य में किसी शब्द पर कुछ अधिक जोर देना होता है, तब उसका क्रम कुछ विशेष प्रकार से रखना पड़ता है। एक परिष्कार-पुस्तक में लिखा है कि जिस शब्द पर जोर देना हो, उसका प्रयोग पहले करना चाहिए। यह बात एकदम गलत है ! इसके एकदम उलटे, सिद्धान्त यह है कि जिस शब्द पर जोर देना हो, उसका प्रयोग पीछे करना चाहिए—वाक्य की 'पूँछ' की ओर जाना चाहिए और कभी-कभी तो अनेक शब्द या उपवाक्य वस्तुतः वाक्य की 'पूँछ'

ही बन जाते हैं ! ऐसे वाक्यों को 'पुच्छल वाक्य' नाम दिया है और मजाक उड़ाया है, उन भाषा-परिष्कारियों ने, जिन्होंने लिखा है कि 'जोर देने के लिए शब्द का प्रथम प्रयोग होना चाहिए !'

अब कुछ उदाहरणों के द्वारा हम यह सब स्पष्ट करेंगे।

'क्या आप भोजन न करेंगे ?'

साधारण प्रश्न है। और

'आप क्या भोजन न करेंगे ?'

इसमें कुछ चिन्तात्मक या खेदात्मक ध्वनि है; 'क्या' कुछ पीछे चला गया है न !

फिर—

'आप भोजन न करेंगे क्या ?'

यहाँ वही प्रश्न अधिक उद्वेग तथा खेद के साथ है; जोर है 'क्या' पर।

इसी तरह—

'यहाँ बैठ कर पाठ कीजिए'

एक साधारण वाक्य है। पाठ करने का विधान है; इसीलिए अन्त में समझिए। अब 'यहाँ बैठ कर' इस अंश को उठाकर पीछे ले जाइए—

'पाठ कीजिए, यहाँ बैठ कर !'

अब इस 'पुच्छल' वाक्य से कहाँ जोर हो गया ? उसी 'पूँछ' पर। पाठ करने पर उतना जोर न रहा, वह अधिकरण पर चला गया। 'पाठ करना है, तो फिर यहाँ बैठ कर कीजिए। यही इस काम के लिए उपयुक्त जगह है।'

'काम पैसे से बनता है'

साधारण वाक्य है। परन्तु—

'काम तो भाई बनता है पैसे से !'

यहाँ 'पैसे' पर जोर है ; अर्थात् और किसी भी साधन से वैसा काम नहीं बनता। उसके लिए तो एक मात्र पैसा चाहिए !

'हम अपने घर रोटी खाते हैं'

और—

'हम रोटी खाते हैं अपने घर पर'

यानी, इधर-उधर सब जगह खाते नहीं फिरते।

सभी कारकों में तथा अव्यय आदि के प्रयोग में यही विधि है—

'शिवाजी ने धर्म की रक्षा की थी, अपनी तलवार से'।

यहाँ करण (तलवार) पर जोर है। इसी तरह सर्वत्र समझिए।

उचित शब्दों का प्रयोग

जैसे अच्छी भाषा के लिए शब्दों का उचित प्रयोग आवश्यक है, उसी तरह उचित शब्दों का प्रयोग। भाषा में सब तरह के शब्द भरे हुए हैं—भंडार है। जहाँ जिस शब्द की जरूत हो, दीजिए। मेरी 'तरंगिणी' का एक दोहा है—

सुनु सरोज, तू रोज क्यों, भौंरनि के मुख मीत !
विज्ञापन निज करत है, घटिहै गुन-परतीत !

यहाँ 'भौंरनि' की जगह 'मधुपनि' अधिक अच्छा रहता; यह समझ में आ रहा है। 'मधुप'=भौंरा और शराबी ! प्राय: शराबी-शोहदे ही तरह-तरह की खुशामद करके रसिया लोगों का 'कोश' चूसते हैं। ऐसे लोगों की तारीफ से यश किसी को मिलेगा क्या ? जो कुछ है भी, साफ हो जाएगा। हाँ, 'भौंर-भीर फारे खाति है' में 'भौंर' अच्छा है—भयंकरता तो 'भ' में है ही; 'भौंर-भीर' का अनुप्रास भी मजे का बन गया ! 'भीर' और भी अच्छा रहा—श्लिष्टता गुणदायक हो गई। ब्रजभाषा में 'भीर' भीड़ को भी कहते हैं और विपत्ति को भी। 'जब-जब भीर परी सन्तन पै'। सो, भौंरो की भीड़ एक विपत्ति बन गई है !

परन्तु—

'सन्त मधुप घेरे रहैं, हरि-मन्दिर रस लोभ'

यहाँ 'मधुप' ठीक नहीं; क्योंकि वह 'सन्त' का उपमान है। रूपक में 'सन्त' को 'मधुप' कहा गया है। 'मधुप' से शराबी का आभास आ जाता है और यह झलकता है कि शराबी 'साधु' वहाँ मँडराते रहते हैं ! यदि इसी तरह के 'साधु' प्रकृत हों और ऐसे ही किसी 'रस' का वर्णन हो, तब तो 'मधुप' बहुत अच्छा !

'एरे सुधाकर ! नीच ! न मानत,
जारत पद्मिनि पापी कलंकी !

'पद्मिनी' शब्द बढ़िया है। इसकी जगह 'कमलिनी' आदि कोई भी शब्द

इतना अच्छा न रहता। यद्यपि व्रजभाषा के मधुर गठन में 'पद्मिनी' के 'द्म' का कुछ समंजस कम बैठता है; फिर भी अर्थ बड़ी चीज है—'लात खाय पुचकारिए, होय दुधारू धेनु'। इसीलिए 'द्म' की कर्कशता सह्य है।

परन्तु जिस 'कलंकी' चन्द्रमा को यहाँ फटकार बताई जा रही है, उसी को 'सुधाकर' कहना बहुत वेमजे! बढ़िया खीर में कुछ किरकिरापन आ गया! 'सुधाकर की जगह 'निशाकर' चाहिए, जो 'निशाचर' की ध्वनि देता है।

चाँदनी से चिढ़ती हुई कोई वियोगिनी चन्द्र को फटकार रही है—'ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के!' 'चन्द्र' का नाम 'द्विजराज' भी है! बढ़िया रहा! इसकी जगह यहाँ कोई भी चन्द्र-पर्याय जम नहीं सकता। यह तो कला है; पर साधारण लेखन में भी यथाशक्य इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

शब्दों का अविज्ञात प्रयोग

कभी-कभी लोग अनजाने ही शब्दों को अपने विरुद्ध प्रयोग करते रहते हैं! हमारे देश में जब अंग्रेज लोग पावँ जमाए हुए थे; तो उन्हें उखाड़-फेंकने के जिस 'गुरिल्ला-युद्ध' का उपक्रम हुआ, उसे जनता द्वारा सम्मान प्राप्त न हो; यह सोचा गया। कारण, जनता द्वारा जिस आन्दोलन को या राष्ट्रीय युद्ध को समर्थन न मिले, वह आप ही उखड़ जाता है। यही सोचकर अंग्रेजों ने सब काम किया। बड़ी क्रूरता से दमन करते थे; पर जनता में उसके प्रति उपेक्षा भी प्रकट करते थे। न जाने कैसे, हमारे उस राष्ट्रीय गुरिल्ला-युद्ध को 'आतंकवाद' नाम दे दिया गया! और मजे की बात यह कि हमारे राष्ट्रीय पत्रों ने तथा राष्ट्रीय साहित्य के लेखकों ने भी यही शब्द अपना लिया! फल यह निकला कि तलवार के धनी हमारे वे बहादुर योद्धा 'आतंकवादी' कहे जाने लगे! आतंक मात्र फैलाने वाले! यानी उनके काम आतंक मात्र पैदा करने वाले; और कुछ नहीं! इस उपेक्षा का ही परिणाम कि देश उतने दिन तक पराधीन रहा! और तो और; हमारी जल सेना ने जब अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंकने के लिए युद्ध-घोषणा कर दी; युद्ध छिड़ गया; हमारे जहाजी बेड़े से लड़ने के लिए इंगलैंड से जहाजी बेड़ा भेजने की तैयारी होने लगी; अंग्रेज ने समझ लिया कि अब इस देश में टिकना सम्भव नहीं; वह सब छोड़ भागने की सोचने लगा, तब भी हमारे इस युद्ध को 'आतंकवाद' ही कहा गया—हमारे ही देश के

लोगों ने कहा ! उसी समय देश भर की हमारी नभ-सेना ने भी अंग्रेजों से निपट लेने का सिगनल कर दिया। देश में इसे भी 'आतंकवाद' कहा गया ! किसी-किस ने 'विद्रोह' भी कहा। आतंकवाद या 'सशस्त्र-विद्रोह' शब्द चलने से हमारे महान् राष्ट्रीय युद्ध की उपेक्षा हुई—अपने ही लोगों में ! परन्तु अब तो 'आजाद हिन्द फौजों' के उस मुकदमे से हमारी फौजें एकदम तैयार हो गई थीं। लड़ाई होती, तो विश्वयुद्ध से जर्जरित अंग्रेज का क्या हाल होता ; नहीं कहा जा सकता ! इसीलिए उसने इज्जत के साथ चला जाना अच्छा समझा, और अहिंसावादी दल को सत्ता सँभला कर चला गया। पर इसमें सन्देह नहीं कि हम अपने स्वातंत्र्ययुद्ध को 'आतंकवाद' तथा 'शसस्त्र विद्रोह' कहकर चिर-काल तक अपनी शक्ति कुण्ठित करते रहे !

शब्दों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस समय जिस दल के हाथ में शक्ति है, उसके सामने डटे हुए दल अपने को 'विरोधी दल' कहते हैं। अखबार इन्हें 'विरोधी दल' कहते हैं, छापते हैं। जनता पर 'विरोधी-दल' शब्दों का प्रभाव पड़ता है; चुनाव में देखा गया। साधारण जनता समझती है कि ये लोग तो विरोध करने भर के हैं ; और कुछ करना-धरना इनका काम नहीं ! उनकी पराजय में इस 'विरोधी' शब्द का बहुत बड़ा हाथ है। मजे की बात यह कि अब भी वे अपने लिए यही शब्द चला रहे हैं ! मुकाबले की पार्टी मानो विरोध मात्र करने के लिए है !

इस तरह शब्द-प्रयोग में असावधानी करने से अलक्षित हानि होती रहती है। अनर्थ न हो, तो व्यर्थता सही ! 'ह्वाइट पेपर' का 'श्वेत पत्र' अनुवाद व्यर्थ है न ? 'श्वेत पत्र'—यानी कोरा कागज ! क्या यही मतलब है ? कहाँ तक लिखा जाए ! जरूरत तो एक छोटे से मासिक पत्र की है, जो बराबर शब्द-विन्यास पर कुछ कहता रहे। नित्य का काम है। यहाँ तो दिङ्-निर्देश भर है।

चौथा अध्याय

शब्दों का प्रयोग-वैशिष्ट्य

शब्द संसार की बड़ी चीज है और मानवीय जीवन या नागरिक-अभ्युत्थान के लिए तो सबसे बड़ी चीज है। यदि शब्दों में अर्थ-संकेत करके मनुष्य ने भाषा न बना ली होती, तो क्या होता ? जो कुछ होता, वह तिर्य्यग्-जगत् से किस अंश में भिन्न होता ? इसीलिए एक जगह कहा गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् अन्धकार में ही रहता, यदि शब्दात्मक ज्योति का उदय न होता।

परन्तु शब्द तो एक साधन है। इसके उपयोग में विशेषता है। जो जितना अच्छा उपयोग करना जानेगा, वह उतना ही आनन्द प्राप्त करेगा। तलवार की विशेषता कुछ काम नहीं देती, यदि (तलवार का) चलाना न आता हो। जो जितना निपुण होगा, उसे उसी मात्रा में विजय मिलेगी। जिन शब्दों को हम लोग नित्य काम में लाते हैं, उन्हीं का प्रयोग तुलसी और सूर ने किया है। उनके शब्द कुछ भिन्न नहीं हैं। परन्तु उनके उपयोग में विशेषता है। उन्होंने उन्हीं साधारण शब्दों का समुचित प्रयोग करके ऐसी विशेषता पैदा कर दी है कि सब मोहित हैं। उस विशेषता के कारण ही तुलसी-सूर आदि अमर हैं। देश में चाहे जो शासन हो, सूर-तुलसी सबके रहेंगे। क्यों ? इसलिए कि उन्होंने शब्द का समुचित प्रयोग किया है। लिखा है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।'

—एक शब्द भी यदि अच्छी तरह जानकर सुप्रयुक्त किया जाए, तो वह स्वर्गलोक में (प्रयोग करने वाले के लिए) कामधेनु होता है। शब्द का ज्ञान व्याकरण से होता है और उसका सुप्रयोग करना अपनी प्रतिभा का काम है। मदद के लिए साहित्य के ग्रन्थ हैं। जो जितना सावधान रहेगा, वह उतना ही उत्कर्ष प्राप्त करेगा। अपने छोटे से जीवन में सैकड़ों रद्दी ग्रन्थ लिख जाना किस काम का ? जन्म भर में एक ही छोटी-सी पुस्तक लिख दोगे, तो अमर हो जाओगे।

वह कूड़ा-कर्कट का ढेर तो बहुत जल्दी नष्ट हो जाएगा ; परन्तु बहुमूल्य विशिष्ट छोटी सी चीज को लोग प्राणों के समान सँजो कर रखेंगे । एक कवि का कहना है :—

"भूतावेशनिवेशिताशय इव श्लोकं करोत्याशु यः
श्लाघन्ते 'कविरद्भुतोऽयमिति' तं मिथ्या जना विस्मिताः ।
द्वित्राण्येव पुरा पदानि रचयन् पश्चात्समालोचयन्,
दूरं यः कवितां निनीषति कविः सिद्धः स तादृक् क्वचित् ।"

—कोई-कोई तुरन्त कविता बनाकर धर देते हैं, सभा में बैठे ही बैठे धारा-प्रवाह गढ़ते चले जाते हैं, जैसे भूत घुस गया हो ! लोग कहते हैं कि यक्षिणी सिद्ध होगी ! ऐसे घसीटू कवियों की प्रशंसा होती है, किस काम की ? कवि तो वह है, जो दो-चार पदों का गुम्फन करके खूब अच्छी तरह देख लेता है कि रसानुरूप ये बैठे कि नहीं ; और तब आगे बढ़ता है। इस प्रकार जो सँभल-सँभल कर पद-विन्यास करे, मधु-गम्भीर पद-निक्षेप जिसका हो, वह कविता !

कविता में ही नहीं, साहित्य के किसी भी क्षेत्र में पद-प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। अन्यथा, रचना दो कौड़ी की हो जाएगी । शब्द के इस 'सुप्रयोग' का महत्व अभी तक, कम-से-कम हिन्दी में तो, समझा नहीं गया है ! और तो क्या, हिन्दी के कवि जन भी शब्द के सुप्रयोग से अभी दूर हैं ! वस्तुतः हिन्दी-साहित्य का यह बाल्य-काल है । अभी तो उन्मेष हो रहा है । न अङ्ग-विकास है, न वह सौन्दर्य है । हिन्दी-कविता चलने लगी है ; पर अभी वह बात नहीं। पद-विन्यास तक ठीक नहीं । चलने में वह लड़खड़ाती है, डगमगाती है । पर चलो, चलने तो लगी ! उसकी इस बाल-सुलभ गति में भी आनन्द है। आगे सब ठीक हो जाएगा, यदि ध्यान रखकर चलने का महत्त्व समझा गया !

ऊपर मैंने कहा कि इस समय पद-प्रयोग में हिन्दी के कवि-जन भी सावधान नहीं, बड़े कवि भी गड़बड़ी में हैं ! इस कथन को लोग सत्य न समझेंगे, यदि दो-चार उदाहरण न दूँ । अधिक उदाहरण देकर उन्हीं से इस पुस्तक को भर देना ठीक नहीं है; अन्यथा एक-एक कवि की एक-एक कृति से ही पुस्तक भर सकती है । असावधानी से अनभीष्ट प्रयोग हो जाता है, यह अलग बात है । हमसे, तुमसे और इसी तरह के अन्यान्य साधारण जनों से ही नहीं, कालिदास और तुलसीदास से भी वैसे

प्रयोग हुए हैं । ऐसा होना स्वाभाविक है । बचते-बचते भी कहीं कोई दोष ग्रा ही जाता है । परन्तु चर्चा तो उन लोगों की है, जो ग्राँखें बन्द करके चलते हैं ! पुस्तक का नाम ही ऐसा रखते हैं कि चित्त घिना जाता है । चाहे जैसी सुन्दर शरीर-रचना हो ; पर यदि नाक बैठी हुई है, तो किस काम की ? तब शरीर की सुन्दरता कहाँ रहेगी ? एक हिन्दी-कवि ने वीर ग्रभिमन्यु की वीरगति का वर्णन एक काव्य में किया है ग्रौर उसका नाम रखा है—'ग्रभिमन्यु-वध' ! यहाँ 'वध' शब्द ने सब गुड़ गोबर कर दिया ! साहित्य-परम्परा में 'वध' शब्द का प्रयोग ऐसी जगह देखने में ग्राता है, जहाँ 'कर्म' कोई दुष्ट—राक्षस ग्रादि हो । जैसे—रावरग-वध, कंस-वध, जरासन्ध-वध ग्रादि । 'ग्रभिमन्यु-वध' में 'वध' शब्द देखकर भावना दूसरी हो जाती है । क्या ग्रभिमन्यु राक्षस थे ? यदि कवि ने ग्रभिमन्यु की दुष्टता का वर्णन किया होता, उसमें राक्षस-रूप देखा होता, तब तो वह नाम उस कविता का ठीक भी होता । यह 'ग्रभिमन्यु-वध' काव्य इंटरमीजिएट परीक्षा में पाठ्य-ग्रन्थ है । सहस्रशः छात्रों को पढ़ना पड़ता है, जो ग्रागे चलकर बी० ए०, एम० ए० होकर साहित्य-जगत् का संचालन करते हैं । इन्हीं लोगों ने, हिन्दी के समाचार पत्रों में उन दिनों बड़े-बड़े मोटे शीर्षकों में—'महात्मा गान्धी का वध' छापा ! 'गान्धी-वध' काव्य भी बना ! इसी मशीन के बने हुए एक साहित्यिक सहारनपुर में हैं, जिनकी सलाह से जिला कांग्रेस-कमेटी के ग्रध्यक्ष ने 'स्वतन्त्रता की पहली बरसी' जोर-शोर से मनाने का ग्रादेश ग्रपने छपे हुए परिपत्र द्वारा जिले भर को दिया था !

इन्हें जाने दीजिए । श्री 'वियोगी हरि' जी तो साधारण साहित्कार नहीं हैं ? वे सम्मेलन के सभापति भी हो चुके हैं ग्रौर उनकी 'वीर-सतसई' को सम्मेलन का 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' भी मिल चुका है । उस 'वीर-सतसई' का मङ्गलाचरण ही देखिए, कैसा है :—

उरभि रह्यो रथ-चक्र सों, धावत भीषम ग्रोर ।
कब गहिहौं रनछोर के, वा पटुका कौ छोर !

'रनछोर' नाम श्रीकृष्ण का उधर काठियावाड़ की ग्रोर प्रसिद्ध है ; इसलिए कि जरासन्ध के साथ जब युद्ध हो रहा था, तो वे मैदान छोड़ भागे थे ! सो प्यार का नाम उधर यह भी है । परन्तु 'वीर-सतसई' के मङ्गलाचरण में इसका क्या मेल ? 'रनछोर' की जगह 'कंसारि' कर देते, तो कैसा रहता ?

दूसरे, इधर हिन्दीभाषी प्रदेशों में 'रणछोड़' नाम श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध भी नहीं है, जहाँ की जनता में इस काव्य की ग्राहकता है। तो, यह पद अभीष्ट अर्थ की प्रतीति में रुकावट लिए हुए भी है; यह दूसरा दोष! तीसरी बात यह कि रथ-चक्र से पीत पट कब उलझा था और उलझ कर तुरन्त सुलझ भी चुका था! युग बीत गए। परन्तु उस समय के उस उलझे हुए पटके का छोर पकड़ने की कामना कवि आज करता है! फिर, उसे पकड़ कर करेगा भी क्या? कोई मर्द झपट कर शत्रु को मारने जा रहा हो और उसकी स्त्री भक्ति के आवेग में उसकी धोती पकड़कर बैठ जाए, तो यह कैसा? वीर रस और वीर कवि के अनुरूप मङ्गलाचरण नहीं है। यहाँ तो ऐसा कुछ मङ्गलाचरण चाहिए था—

हलधर सँग गोपाल ने, कियो कंस-मद चूर।
मनौ कह्यो—सासक जगत, हैं किसान-मजदूर।

'धरती गाती है' एक ऐसे भावुक साहित्यकार की कृति है, जो बहुत दिन तक देहाती लोगों के साथ रहने का गर्व करता है। परन्तु उसने 'बीस बिस्वा सच बात है' की जगह 'सौ बिस्वा' लिखा है, अपनी इसी पुस्तक में। 'सौ फी सदी' का 'सौ' और 'बीस बिस्वा' का 'बिस्वा'। यों 'हिन्दुस्तानी' मुहाविरा!

अगस्त १९५० के 'आजकल' में पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय का लेख है—कविवर श्री मैथिली शरण गुप्त के सम्बन्ध में। लेख का प्रथम वाक्य यों प्रारम्भ होना है—'कविवर श्री मैथिली शरण गुप्त का नाम स्मरण आते ही·······'। पाण्डेय जी को पता नहीं कि यह वाक्य पढ़ने वाले की मनोदशा कैसी हो जाएगी!

कहने का तात्पर्य यह कि आरम्भ में ही, मङ्गलाचरण में ही, सब मामला बिगड़ जाता है और फिर सहृदय जन उससे हट जाते हैं। समझ लेते हैं कि आगे क्या होगा—'जानी जात बरात की, दूल्हे का नाम भम्भू!'

परन्तु सावधानी से पद रखे जाएँ, तो कहना ही क्या! श्री प्रेमचन्द जी ने एक कहानी 'सरस्वती' में छपने भेजी। शीर्षक था—'पंचों में परमेश्वर'। द्विवेदी जी ने शीर्षक कर दिया—'पंच परमेश्वर'। कितना परिवर्तन हो गया? काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में कुछ सुधार द्विवेदी जी करना चाहते थे। सभा के अधिकारी नाराज हो गए और द्विवेदी जी को लिखा कि क्यों न आपको सभा की सदस्यता से पृथक् कर दिया जाए? द्विवेदी जी ने पचास से भी

अधिक पृष्ठों में उत्तर दिया। तब सभा की ओर से लिखकर आया कि आपके उत्तर से सभा को सन्तोष हो गया है और अब वैसे अनुशासन की कोई बात नहीं। इस पर द्विवेदी जी ने लिखा—"सन्तोष हो गया है ; सो ठीक ; परन्तु सभा के जिन पदाधिकारियों पर मैंने जो आरोप लगाए हैं, उनकी जाँच की जाए और अपराधी सिद्ध होने पर उन्हें दण्ड दिया जाए। यदि अपराध निराधार सिद्ध हों, तो मुझे दण्ड दिया जाए। यदि ऐसा नहीं होता, तो मैं सभा का सदस्य न रहूँगा और वैसी दशा में मेरा त्यागपत्र स्वीकार किया जाए।" अन्ततः द्विवेदी जी सभा से अलग हो ही गए। सरस्वती में यह प्रकरण द्विवेदी जी ने विस्तार से छापा था और शीर्षक दिया था – **'सभा की सभ्यता'**। शीर्षक में 'सभ्यता' बहुत अच्छा रहा ; उनके उस समय के भावों के बहुत अनुकूल है। और कोई होता, तो 'सभा की सदस्यता' रखता। 'सदस्यता' की जगह यहाँ 'सभ्यता' कितना अच्छा है ; क्यों अच्छा है ; यह सब बतलाने की जरूरत नहीं। चीज तो समझने वाले पर होती है। विशिष्ट पदों का प्रयोग न सब कर ही सकते हैं ; न समझ ही सकते हैं।

पं० पद्मसिंह शर्मा भी मौके से पद-प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। 'सम्मेलन' के मुजफ्फरपुर-अधिवेशन में वे सभापति थे। अपने अभिभाषण में उस वर्ष दिवंगत साहित्यकारों के प्रति करुणार्द्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उन्हों ने कहा—'कहाँ तक गिनाऊं ? यह लम्बी सूची आगे बढ़ती हुई हृदय को छेदती ही चली जा रही है !' यहाँ 'सूची' शब्द देखिए। 'छेदती चली जा रही है' देख कर भी साधारण जन 'सूची' का महत्त्व न समझ पाएँगे। ये अलोक-साधारण पद हैं और इनका आनन्द भी वैसा ही (अलोकसाधारण) है। इसी 'अलौकिक आनन्द' को लोगों ने 'इस लोक से परे का आनन्द' समझ लिया है, और काव्य-चिन्तन करते हुए वैसा ही कुछ लिख भी दिया है ! यह सब समझ का फेर है।

संक्षेप में यह कि साधारणतः सभी को समझ-बूझ कर पद-प्रयोग करना चाहिए ; पर शब्द-शिल्प के व्रती का तो यही सर्वस्व है। उसे अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। हिन्दी में अभी, इस दिशा में, कुछ हुआ ही नहीं है। एक बहुत बड़े कवि ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा था कि हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया है और वह 'पिय' की जगह 'प्रिय' बोलने लगी है। कवि जी ने

स्पष्टतः अवधी तथा व्रजभाषा के कवियों पर कटाक्ष किया है ; पर उन्हें यह नहीं मालूम कि पके कलमी आम का स्वाद कोई इसलिए न छोड़ देगा कि तुम उसे विकृत कह कर कच्ची अमिया के गुण गा रहे हो । अपनी-अपनी जगह दोनों ठीक हैं । अचार के लिए कच्चे कड़े आम लेंगे और वह आस्वाद तो पके आम में ही मिलेगा । 'सिय पिय हिय की जाननिहारी' में 'पिय' की जगह 'प्रिय' बिल्कुल भद्दा लगेगा । परन्तु 'प्रिय परिवार' की जगह 'पिय परिवार' कभी भी न होगा, न अवधी में, न व्रजभाषा में ! स्त्री ही अपने पति को स्वभाव-मधुर 'पिय' कहती है ; पुरुष अपनी स्त्री को 'प्रिया' की जगह कभी भी 'पिया' न कहेगा, न अवधी में, न व्रजभाषा में । सो यह भाषा का तुतलाना नहीं है ; कलात्मक विशिष्ट प्रयोग है ।

जिन कवि महोदय ने वह भाषा के तुतलाने की बात कही है, वे अपनी ओर नहीं देख पाए हैं । साधारण व्याकरण-सम्बन्धी गलतियाँ उनमें हैं ; पद-वैशिष्ट्य तो बहुत दूर की चीज है—

'मानव तुम सब से सुन्दरतम ।'

दसवीं श्रेणी का छात्र भी ऐसी जगह 'सब से' न देगा । वह अर्थ तो 'तम' से ही निकल गया । 'सब से' की जगह 'जग में' कर देते, तो वाक्य जगमगा उठता ।

खैर, सारांश यह है कि पद-सम्बन्धी विशिष्ट चिन्तन साहित्यकार की सबसे पहली चीज है और सबसे बड़ी भी । साहित्य में पद-प्रयोग ही तो एक चीज है । सब कुछ जानते हो ; पर कहना न आया, तो सब व्यर्थ ! कहना तो तब आए, जब पद-चिन्तन में सावधानी हो । यह सब अभ्यास से आता है । जानते-समझते हुए भी कुछ नहीं हो सकता, यदि उधर अभ्यास न हो । स्वास्थ्य के नियम जान लेने से ही कोई गामा पहलवान नहीं बन जाता । पर जानने का महत्त्व भी है । दोष भी जानने चाहिए—'जाने ते छीजहिं कछु पापी' ।

पुस्तक के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की पुरानी चाल है ; परन्तु पुराने समय में ही लोगों ने इस चाल को तोड़ भी दिया था । कोई कहानी कहनी है, तो 'एक था राजा और उसकी एक थी रानी' कहने से पहले 'श्रीगणेशाय-नमः' कहना जरूरी क्यों ? इसीलिए 'कुमार-सम्भव' जैसी कृति में कालिदास ने मङ्गलाचरण नहीं किया और कह चले—भारत की उत्तर दिशा में हिमालय

नाम का एक बहुत बड़ा पहाड़ है—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' । परन्तु फिर भी मङ्गलाचरणवादी टीकाकारों ने कहा कि मङ्गलाचरण तो हो गया ! वस्तु-निर्देश भी मङ्गलाचरण है । जब कालिदास ने कहा कि 'उत्तर में एक पहाड़ है', तो वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गलाचरण हो गया । यदि यों मङ्गलाचरण का न करना भी मङ्गलाचरण है, तब तो कोई बात ही नहीं । इसी तरह 'आषाढ़स्य प्रथमदिवसे' आदि को भी वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गलाचरण कहा गया है ।

विज्ञान आदि विषयों के ग्रन्थों में तो मङ्गलाचरण होता ही नहीं है ; पर अब काव्य तथा धर्म-शास्त्र जैसे विषयों के ग्रन्थ भी मङ्गलाचरण की वैसी परवाह नहीं करते । हम यह नहीं कहते कि मङ्गलाचरण न करो ; केवल वस्तु-स्थिति बता रहे हैं । परन्तु कहना इतना है कि मङ्गलाचरण यदि करो, तो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से उसका सामञ्जस्य होना चाहिए । शान्तरस के ग्रन्थ में रसिक कृष्ण की वन्दना ठीक नहीं । हाँ, शृङ्गारात्मक काव्य में उस रूप का स्मरण और बात है, जैसा कि विहारी आदि रसिक कवियों ने किया है । इसी तरह वीर रस के काव्य में 'गोपीदुकूलहर' की वन्दना ऐसी ही रहेगी, जैसे 'गंगा की गैल में मदार के गीत' ! वहाँ तो कंसचाणूर-मर्दन का स्मरण होना चाहिए । राजनीति के ग्रन्थ में या कर्तव्यशास्त्र में गीता-उपदेशक रूप ठीक रहेगा । दर्शनशास्त्र में तो गीता-गुरु चाहिए ही चाहिए ।

परन्तु 'न्यायमुक्तावली' में 'गोपीदुकूलचौराय नमः' है—

नूतनजलधररुचये, गोपीदुकूलचौराय ।
तस्मै नमः कृष्णाय, संसारमहीरुहस्य बीजाय ।।

इसमें अन्तिम विशेषण 'संसारमहीरुहस्य बीजाय' ठीक है ; क्योंकि न्याय-दर्शन संसार का कर्ता ईश्वर को मानता है । शेष दोनों विशेषण प्रकृत में किसी काम के नहीं । खैर, एक ही और अन्तिम ही विशेषण सही ; कुछ सँभाल तो लिया ! अन्यत्र तो ऐसे मङ्गलाचरण मिलते हैं कि कुछ न पूछो !

हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी के मङ्गलाचरण बहुत सुन्दर हैं । यद्यपि रामचर्चा के ग्रन्थ में मङ्गलाचरण की जरूरत ही नहीं, चीनी को मीठा करने के लिए उसमें और चीनी मिलाना ठीक नहीं । जब ग्रन्थ का ग्रन्थ ही राम-भक्तिमय है, तब फिर प्रारम्भ में मङ्गलाचरण और क्या ? परन्तु फिर भी

गोस्वामी जी ने मङ्गलाचरण किये हैं और उन (मङ्गलाचरणों) से वस्तुतः उनके विघ्न दूर हुए हैं, या दवे हैं ! और वे मङ्गलाचरण प्रकृत से सामञ्जस्य भी रखते हैं । उन्होंने चीनी में चीनी नहीं, केवड़ा मिलाया है । प्रायः सर्वत्र शिव जी की या गणेश जी की वन्दना उन्होंने की है । और, सर्वत्र अपनी अनन्य रामभक्ति की झलक भी रखी है । 'गाइए गनपति जगबन्दन' गाकर फिर उनसे 'माँगत तुलसिदास कर जोरे, बसहु राम-सिय मानस मोरे' प्रार्थना कर रहे हैं । गणपति-वन्दना और राम की अनन्य-भक्ति ! इसी तरह सूर्य की वन्दना करके 'तुलसी राम-भक्ति वर माँगै' कहा है । 'को जाँचिए सम्भु तजि आन' पद्य के अन्त में भी—

देहु कामरिपु, रामचरन-रति,
तुलसिदास कहँ कृपानिधान !

यों वहीं आ गए हैं ।

इस प्रकार विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति-प्रार्थना करके तुलसी बहुत से विघ्नों से बच गए ; बहुत-कुछ शान्ति हो गई । जैसा कि तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में ही आगे कहा है कि मेरी तो यह हठबुद्धि है कि मैं किसी दूसरे को अपना प्रभु मानता ही नहीं ; वे अनन्य वैष्णव थे और पञ्चदेव-वन्दना से उनकी वह अनन्यता और दृढ़ हो गई है । कुछ समालोचकों ने उन्हें वैष्णव न मानकर स्मार्त माना है । स्मार्त पञ्चदेवोपासक होते हैं न ! परन्तु ये समालोचक यह नहीं देख पाए हैं कि अन्य देवी-देवताओं की वन्दना करके तुलसी उनसे चाहते क्या हैं ? इनका मुख्य ध्येय क्या है ? पर, यह तो प्रसंग से कुछ बाहर की बात है ।

कहा जा रहा था कि इस तरह के मङ्गलाचरण करके, अनेक देवी-देवताओं की वन्दना प्रारम्भ में ही करके, ग्रन्थकार ने अनेक विघ्न-बाधाओं को दूर कर दिया है । अन्यथा, इन्हें अत्यधिक बाधाओं का सामना करना पड़ता । लोग इन्हें कट्टर वैष्णव समझकर सताते । सताया तो फिर भी, पर बहुत से 'भूत-प्रेत' शान्त रहे, यह जानकर कि यह भी हमारे प्रभु (शंकर) का भक्त है । कुछ न भी माने और ऊधम मचाते ही रहे ! इन 'भूतों' की यन्त्रणा से घबराकर ही तुलसी ने शंकर से बार-बार प्रार्थना की है कि महाराज, अपने इन गणों से हमारी रक्षा कीजिए । यों एक ढंग से वे रोए हैं ; इसलिए बचे भी रहे ; अन्यथा

कबीर की ही तरह इन्हें भी रूढ़िवादियों के सामने से भागना पड़ता ! कबीर अक्खड़-फक्कड़ थे, सीधे ही 'गलकटिया' कह कर गालियाँ दीं । गले तो काटते ही हैं लोगों के, वे लोग ! परन्तु कबीर को अन्ततः काशी छोड़कर भागना पड़ा ।

हमारे लिखने का यह मतलब नहीं कि 'भूतों' के उत्पात से बचने के लिए ही तुलसी ने शंकर आदि की वन्दना की थी और उनमें उनकी तात्त्विक भक्ति थी ही नहीं । ऐसा नहीं है । केवल इतना कि वे राम के अनन्य उपासक थे ; वन्दना सब की कर लेते थे और पूर्ण श्रद्धा से करते थे । और, शिव जी के प्रति तो उनका अत्यधिक आकर्षण था । मेरा अनुमान है कि श्री जगद्धर भट्ट की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' तुलसी ने अवश्य पढ़ी होगी और उसका उनके हृदय पर प्रभाव पड़ा होगा । 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' शिव-स्तुति-विषयक अत्यन्त उच्च-कोटि का संस्कृत-काव्य है । इसी संस्कृत काव्य के अनुकरण पर गोस्वामी जी ने अपनी 'विनय-पत्रिका' लिखी है ; यह भी मेरी धारणा है । 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' के प्रारम्भ में नर-काव्य की बड़ी विगर्हणा की गई है और उससे क्लान्त सरस्वती को शिवभक्ति के अमृत-रस से आप्यायित करने को कहा गया है । तुलसी ने 'रामचरित-मानस' के प्रारम्भ में यही कहा है, उसी ढँग से । परन्तु 'विनय-पत्रिका' की तो रचना ही 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' के अनुकरण पर है—उसी छाया पर । ग्रन्थ छाया पर है ; परन्तु रचना स्वतन्त्र है । जगद्धर ने अन्त में प्रथम आदि गणों से और पार्वती से प्रार्थना की है कि मेरी यह स्तुति-रूपी कुसुमों की अञ्जलि (भेंट) आप प्रभु तक पहुँचा दें । तुलसी ने भी इसी तरह हनुमान् आदि से तथा सीता जी से प्रार्थना की है कि मेरी यह 'विनय-पत्रिका' प्रभु के पास पहुँचा दो ; पर अच्छा मौका देखकर—'कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ, मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ' । परन्तु तुलसी ने सीता जी से यह प्रार्थना पहले ही कर ली है, अन्त में नहीं । अन्त में तो भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण के साथ हनुमान् जी से उन्होंने कहा है, नाम ले-लेकर कहा है कि—

निज-निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ
दास-आस पूजिहै खीन की !

—आप सब अलग-अलग, जब जिसे अवसर मिले, मेरी बात चलाकर प्रभु

से सिफारिश करें ; तो काम बन जाएगा । अखिर हनुमान् जी का और भरत जी का संकेत पाकर लक्ष्मण जी ने राम जी के सामने तुलसी की चर्चा चला ही तो दी और प्रस्ताव होते ही 'सकल सभा लै उठी'—हाँ जी, है तो ऐसा ही । सीता जी ने भी समर्थन किया और बस, राम जी के यहाँ तुलसी की 'विनय' मंजूर । बिलकुल यही सब 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' में है । गोस्वामी जी से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले जगद्धर भट्ट का समय है । इतने दिन में 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' का पर्याप्त प्रसार हो गया होगा ; और काशी-जैसे शिव-क्षेत्र में तो उसकी पहुँच निसर्ग-सिद्ध है । सो, इसी 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' ने तुलसी में शिव-भक्ति पैदा की ; यद्यपि राम के प्रति वे अनन्य रहे । हाँ, 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' में शिव के अतिरिक्त और किसी की वन्दना नहीं है । जरूरत ही न थी । प्रसङ्गप्राप्त चीज कुछ अधिक आगे बढ़ गई ।

शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य

रचना में सबसे अधिक ध्यान सामञ्जस्य पर रखना चाहिए । अर्थ के अनुरूप शब्द हों और शब्दों का कोई भी अंश ऐसा न हो, जो प्रकृत अर्थ का पोषक न हो । हिन्दी के समालोचकों ने तो संस्कृत-समालोचना की खिल्ली उड़ाई है और कहा है कि समालोचना के नाम पर यहाँ कुछ था ही नहीं ; यह ज्ञान तो हमें पाश्चात्यों से मिला है ! यदि आधुनिक हिन्दी-लेखकों तक सीमा रहती, तब भी कोई बात थी ! समस्त भारतीय-साहित्य को—संस्कृत साहित्य को भी—वैसा उथला कह दिया, समालोचना के बारे में ! यह अज्ञान की बात है । जान-बूझ कर कोई ऐसी आत्म-अवमानना न करेगा । संस्कृत में कैसी समालोचना है, यह एक पृथक निबन्ध में विस्तार से बताने की चीज है। यहाँ तो सामञ्जस्य की चर्चा चलने पर उधर ध्यान चला गया । संस्कृत साहित्य में सामञ्जस्य तथा औचित्य पर आलोचकों ने अत्यधिक ध्यान दिया है ।

'मालतीमाधव' का एक सुन्दर पद्य है :—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनम्,
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलम्,
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः !

कापालिक मालती को उठाए लिए जा रहा है, बलि देने के लिए ; उसी

दशा में माधव उससे कहता है:—अरे, यह तू क्या करने जा रहा है ! इसे मार कर तू इस संसार को असार क्यों करने जा रहा है ! फिर यहाँ रह क्या जाएगा ? त्रिभुवन का रत्न नष्ट हो जाएगा और यह लोक आलोकशून्य हो जाएगा। इस रमणी के बन्धु-बान्धवों को तो मौत ही सूझेगी। इसके न रहने से कन्दर्प का दर्प ही उड़ जाएगा। संसार के नेत्र निष्फल हो जाएँगे। और तो क्या, यह जगत् फिर जीर्ण अरण्य ही हो जाएगा—ठूँठ से दिखाई देंगे सब !

तुझे बलि ही देनी है, तो कोटि-कोटि प्राण भरे हैं, चाहे जिसे ले जा ; पर इस रत्न को क्यों नष्ट किए दे रहा है ! यही पद्य का तात्पर्य है।

इस पर आलोचना करते हुए राजानक कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में लिखा है—'यह पद्य एक ऐसा महावाक्य है, जिसमें कितने ही छोटे-छोटे वाक्य बहुत सुन्दर जड़े हुए हैं और वे सब उस रमणी के लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रकट करते हैं ; परन्तु उन सबके बीच में 'मरणशरणं बान्धवजनम्' यह अंश बिलकुल भरती का है ! इससे उसके वैसे लावण्यातिशय का कुछ भी बोध नहीं होता ! यह तो साधारण बात है। किसी के भी वियोग में उसके बन्धु-बान्धवों की वही स्थिति हो सकती है। सो, वैसे सुन्दर उन वाक्यों में यह एक भरती का वाक्य कवि ने दे दिया है, जिससे उसके निर्माण-कौशल में बट्टा लग गया है।' कुन्तक ने लिखा है कि यहाँ 'विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिम्' कर दिया जाता, तो ठीक रहता—ब्रह्मा ने जो एक अद्भुत चीज दुनिया को दी है, तू उसे नष्ट करने जा रहा है !

यदि मेल की चीज ढूंढ़े न मिले, तो बेमेल न देकर कुछ ऐसे ढँग से रचना करनी चाहिए, कुछ ऐसी चीज देनी चाहिए कि जिससे पहले कहे हुए पदार्थ भी संजीव हो उठें। कुन्तक ने इसे ('बाल-रामायण' का) एक पद्यांश देकर स्पष्ट किया है। वह यों है :—

रुद्रादेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासनम्—
कारावेश्मनि, पुष्पकापहरणं यस्येदृशाः केलयः !

—'रुद्र आदि को उठा लेना, अपने कंठों को अपने हाथ से ही धड़ से उड़ा देना, इन्द्र को कैद में डाल देना और पुष्पक विमान कुवेर से छीन लाना' यों रावण के कैसे लोकोत्तर काम 'पुष्पकापहरणं' तक गिनाए और आगे वैसी कोई बात न सूझी, तब बेमेल कोई बात न रख कर आगे कह दिया—'यस्येदृशाः

केलयः'—'ऐसे-ऐसे काम जिसके लिए एक खिलावाड़ रहे हैं'। इससे पूर्व के पदार्थों में भी जान पड़ गई। वे सब काम रावण ने किसी बड़े पराक्रम से किए हों, ऐसी बात नहीं; उसके लिए तो वह सब खेल था! यों बात बन गई। परन्तु इसकी जगह यदि 'सीतापहरणक्रिया' जैसा कुछ कह दिया जाता, तो बेमेल हो जाता। एक अबला को चुपचाप छल से उठा ले जाना रावण के उन पराक्रमों में क्या विशेषता पैदा करता? सो, कवि को यदि पूर्वप्रयुक्त पदार्थों के समकक्ष कुछ न दिखाई दे, तो फिर कुछ इस तरह पद-योजना करनी चाहिए, जैसा कि ऊपर बताई गई है।

निरे भरती के शब्द भर देने से रचना का नाश हो जाता है। आज-कल तो शब्दाडम्बर से बड़े-बड़े थोथे पोथे तैयार कर दिए जाते हैं और परीक्षार्थियों के सिर पर उनका बड़ा बोझ लाद दिया जाता है। सार ढूँढ़े नहीं मिलता। अत्यधिक कूड़ा-कर्कट में कहीं कोई काम की चीज भी हो, तो कठिनाई से दिखाई देती है। पहाड़ खोदो, तब चुहिया निकले! इससे लोग ऊब जाते हैं। संस्कृत में इस बात पर बहुत विचार किया गया है। महिम भट्ट तो अत्यधिक रुष्ट हैं, वैसे थोथे शब्दों की भरमार से। 'अर्थश्चेदवगतः किं शब्द-प्रयोगेण?' यदि अर्थ किसी और तरह सामने आ जाए, तो फिर उसके लिए शब्द-प्रयोग की जरूरत क्या है? महिम भट्ट ने जिन पद्यों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया है और उन पर विचार किया है, उनमें से कुछ देखिए—

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः?
अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा।

—उस तरह अपमानित होने पर द्रौपदी इस तरह रोई कि आंसुओं से उनकी दृष्टि अवरुद्ध हो गई! सामने बैठे किंकर्तव्यविमूढ़ पाण्डवों की ओर उनकी दृष्टि थी; पर आँसुओं की बाढ़ के कारण वे दिखाई न पड़ते थे। इस पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि आँसुओं के पानी ने (बाष्पवारिणा) मानो इस लिए द्रौपदी के नेत्र अवरुद्ध कर लिए कि जो पति यथोचित कार्य करने में असमर्थ हैं, उन्हें देखने से कोई लाभ नहीं।

इस पर महिम भट्ट ने लिखा है कि आँसू तो पानी ही होते हैं; तब फिर पानी (वारि) शब्द किस लिए? केवल 'बाष्प' शब्द पर्याप्त था। हाँ, 'वारि' की जगह 'सम्पद्' शब्द यदि दे दिया जाता, तब तो कोई बात भी थी।

'वाष्पवारिणा' की जगह 'वाष्पसम्पदा' अच्छा रहता ! अपने काम आए, वही सम्पद्। 'सम्पद्' शब्द स्त्रीलिङ्ग भी है। एक स्त्री की मदद के लिए दूसरी स्त्री का आ जाना स्वाभाविक है। उस विपत्ति में सामने बैठे हुए पति दिखाई दें और कुछ न बोलें, तो दुःखावेग बहुत बढ़ता है। उस (दुःखावेग) को रोकने के लिए आँसुओं की बाढ़ सामने आई; इसीलिए वह सम्पद्। यह महिम भट्ट का कहना है। वे कहते हैं—'अस्मिन् हि सति पौनरुक्त्यपरिहारः, सम्पदः स्त्रीत्वात् सखीत्वव्यक्तौ लेशतोऽर्थान्तरावगतिश्च, इत्युभयं सिद्धं भवति।' अर्थात् 'वारि' की जगह 'सम्पद्' कर देने से एक तो अर्थ की पुनरुक्ति मिटती है और दूसरे इस (सम्पद्) के स्त्रीलिङ्ग होने से सखीत्व की प्रतीति होती है, दुःख में सहायक ; यों थोड़ा बहुत अर्थ-प्रकर्ष भी प्राप्त हो जाता है !

परन्तु कहीं 'अश्रु' या 'वाष्प' के साथ 'वारि' आदि पद रखे भी जा सकते हैं ; यदि विशेषण गुणाधान होता हो :—

'सति प्रयोजने तु न दोषः । यथा—

पृथ्वीपाल, प्रतापस्ते वैद्युतेनाग्निना समः ।
यो वैरिवनिताबाष्पवारिणा वर्द्धतेऽधिकम् ।

—हे पृथ्वीपाल, आपका प्रताप बिजली की आग-जैसा है, जो कि वैरि-वनिताओं के अश्रु-जल से अत्यधिक उद्दीप्त होता है।

यहां बाष्पवारि ठीक है ; क्योंकि बिजली की आग पानी से अधिक उद्दीप्त होती है, यह प्रसिद्ध है। वह (बिजली की आग) आँसुओं से नहीं बढ़ती। इस लिए 'बाष्प' के साथ 'वारि' जोड़ देना ठीक ही है—'वैद्युताग्निवृद्धेराधिक्यस्य वारिकार्यत्वेन प्रसिद्धेः न तथा दोषः।'

इसी तरह—

'अवहितचेतसः पथि जनस्य कुतः स्खलितम् ?'

—सावधान चित्त जिसका है, वह पुरुष मार्ग में लड़खड़ा कर गिरेगा क्यों ? यहाँ चेतस (चित्त) शब्द भरती का ही है। अवहित (सावधान) ही विशेषण पर्याप्त था।

इसी तरह—

अवगच्छति मूढ़चेतनः

इसमें 'चेतन' शब्द निरर्थक है। कहीं-कहीं तो ५०% अंश निरर्थक होता है—

'उदितवपुषि दिननाथे प्रविकसितात्मसु कुलेषु कमलानाम्
जगति प्रमुदित-मनसि च कोऽन्यो: विमनायते घूकात् ?'

यहाँ 'उदिते दिननाथे, विकसितेषु कमलानां कुलेषु, जगति प्रमुदिते च, घूकादन्य: को विमनायते' इतना सार है। सूर्य के उदय होने पर कमल-कुल खिले और जगत् प्रमुदित हुआ। एक उल्लू को छोड़ और कौन ऐसा है, जो इस समय अनमना होगा ? से, 'वपुष्', 'आत्मन्' तथा 'मनस्' ये तीन शब्द तीन चरणों में व्यर्थ हैं। इसी तरह—

'पातु वस्तारकाकान्तकलाकलितशेखर: ।
जगत्-त्रयपरित्राणक्रियाविधिविचक्षण: ।'

यहाँ 'क्रिया' और 'विधि' व्यर्थ हैं। 'परित्राणविचक्षण' ही पर्याप्त है।

अधिक उदाहरण देना ठीक नहीं। विचार तो यहाँ तक किया गया है कि यदि 'समासोक्ति' और 'दीपक' आदि के ढँग से औपम्य प्रतीत हो रहा हो, तो फिर उपमा-वाचक शब्द देना व्यर्थ है। साफ कहने की अपेक्षा प्रतीत होने में ही अधिक सुन्दरता भी है। जब एक चीज (औपम्य) प्रतीति का विषय है ही, तब उसका फिर किसी शब्द से अभिधान क्या ? जो शब्दों से ही खिलवाड़ करने वाले हैं, वे ही ऐसा शब्दाडम्बर रचते हैं। अच्छे कवि तो एक भी पद व्यर्थ न रखेंगे। महिम भट्ट के शब्दों में—

'येषु प्रयुक्तेष्वप्रयुक्तेष्वपि तुल्यैवार्थावगतिरिति ते तत्र शल्यायमाना: शाब्दिकै: केवलमाद्रियन्ते । कविभिस्तु प्रस्तुतरसाभिव्यक्तिव्यवधाननिबन्धनधियावधीरणीया एवं ।'

—जो शब्द ऐसे हैं कि प्रयुक्त करने पर जो अर्थ देते हैं और न प्रयुक्त करो, तो भी वह अर्थ निकलता ही है, अर्थ में कोई खूबी-खराबी नहीं आती, जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से, ऐसे शब्द तो केवल शाब्दिक लोग ही पसन्द कर सकते हैं। कवि जन तो सुन्दर रचना में इन्हें काँटे की तरह समझते हैं ; क्योंकि प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति में ये झाड़-झंखाड़ बाधा ही डालते हैं। पाठक इनमें क्षण भर के लिए उलझ जाता है। इसलिए रससिद्ध कवि ऐसे घास-फूस को अपने क्षेत्र में रहने नहीं देते।

परन्तु रस-सिद्धि के लिए एक पद की जगह दस पद लाना भी गुण है, पद की जगह वाक्य भी दिया जा सकता है :—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी, मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।

कालिदास ने यहाँ 'वाल्मीकि' पद की जगह उतना बड़ा पद-समुदाय दिया है, जो अतिशय सुन्दर है। सीता जी बियाबान जंगल में पड़ी करुण क्रन्दन कर रही थीं। उनका वह हृदयविदारक क्रन्दन मुनि वाल्मीकि के कानों में पड़ा, जो पूजा के लिए कुश-समिधाएँ लाने को आश्रम से निकले थे। वे शुष्क सन्त न थे, अत्यन्त करुणार्द्र थे; तब उधर वे कैसे न जाते? रोने की आवाज जिधर से आ रही थी उसी ओर वे चले। यही कालिदास के उद्धृत पद्य में कहा गया है। परन्तु खूबी यह कि वाल्मीकि की करुणार्द्रता को मूर्तिमान् कर दिया गया है, जो कि उधर जाने का कारण है। पद्य का अनुवाद यह है—

रोने की आवाज का अनुसरण करते हुए उन (सीता जी) की ओर वे मुनि चल पड़े, जिनका हृदय क्रौंच पक्षी की वेदना से किसी समय विह्वल हो गया था और इससे उन्हें जो शोक हुआ, वह श्लोक बन कर प्रकट हुआ। (जो तिर्यक् प्राणियों के दुख-दर्द से ऐसे प्रभावित होते हैं, उनका हृदय एक अबला के चीत्कार की उपेक्षा कैसे करता?)

यह सब उस पद-समुदाय का प्रभाव है, जो 'वाल्मीकि उस ओर गए' ऐसा कह देने से कभी सम्भव न था। 'कारुणिक वाल्मीकि उधर गए' यों 'कारुणिक' विशेषण से भी वह बात न आ पाती, वाल्मीकि की करुणार्द्रता 'कारुणिक' विशेषण से वाच्य-रूप में सामने आती, तो वैसा रूप कभी प्राप्त न कर सकती, जो उस घटना का उस तरह संक्षेप से उल्लेख करने पर व्यंजित हुई। इसी को दृष्टि में रखकर कहा गया है पद के स्थान में वाक्य देना भी कवि के लिए उत्कर्ष-आधायक है; क्योंकि कविता सजीव हो उठती है। इसी तरह, अनावश्यक विस्तार को रस का परिपन्थी समझकर कवि एक वाक्य में कही जाने वाली चीज एक पद में कह जाता है। यह भी एक विशेष गुण है।

सब का सार यह है कि रस-सिद्धि को देखकर वाणी का संकोच-विस्तार करना होता है। साधारणतः अपने मन की बात थोड़े शब्दों में स्पष्ट कह देना और उसे नीरस न होने देना ही सबसे बड़ी और मुख्य बात है। परन्तु हिन्दी में आजकल अनावश्यक शब्द-विस्तार साधारण चीज है।

यही नहीं, कहीं-कहीं तो रस का आघात क्या, अपनी बात का व्याघात भी हो जाता है ! हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में आप देखेंगे—'मुखचन्द्र के रहते आकाश के इस चन्द्र की जरूरत क्या ?' ऐसे वाक्य एक अलंकार के रूप में रटाए जाते हैं ! परन्तु यह ध्यान नहीं दिया जाता कि यह अलंकार ऐसा बेढँगा हो गया है, जिससे भाषा की कुरूपता बढ़ती है ! जिस चन्द्र का अभिक्षेप है मुख के सामने, उसी का आरोप भी है, मुख का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए—'मुखचन्द्र'। इसका मतलब यह हुआ कि मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है, तब चन्द्रमा की जरूरत क्या ? क्या हुआ ? मुख में चन्द्र का आरोप किया, तो इस (चन्द्र) को मुख से अधिक मान लिया ; क्योंकि उपमान में गुणाधिक्य स्वभावसिद्ध है। परन्तु आगे वहीं उसका तिरस्कार भी है ! 'मुख के होते चन्द्र व्यर्थ है' कहा जाए, तो बात भी है। 'व्यर्थ' कहने से ही औपम्य आ जाता है। उसके लिए आरोप अपेक्षित नहीं है। परन्तु हिन्दी साहित्य तो अभी शैशव में है। अब से लगभग २० वर्ष पहले 'काव्यालंकार' नामक एक ग्रन्थ मैंने लिखा, संस्कृत के 'रसगङ्गाधर' के ढँग पर। एक-एक अलंकार पर एक-एक परिच्छेद। हिन्दी के सभी अलंकार-ग्रन्थों का खण्डन करना पड़ा। तीन सौ पृष्ठ लिख गया। फिर सोचा कि आगे जब हिन्दी में भी साहित्य-विद्या आविर्भाव होगा, तो लोग इस ग्रन्थ को देखकर हँसेंगे और कहेंगे कि वाजपेयी केवल धूल छानने बैठा था ! जिन ग्रन्थों का एक भी पृष्ठ शुद्ध नहीं, उनकी आलोचना क्या ? इतना मन में आते ही आगे लिखना बन्द कर दिया। वह उतना अंश अब तक लिखा पड़ा है। परिश्रम किया है, इसलिए नष्ट करने को इच्छा नहीं होती और किस चीज का खण्डन किया है, यह देखकर छपाने का मन नहीं।

हिन्दी में शब्दाडम्बर की जो चर्चा मैंने की है, उसे आधुनिक साहित्य के ही लिए समझिएगा। ब्रजभाषा या अवधी के पुराने कवियों में यह बात नहीं। वे लोग नपे-तुले शब्दों में बड़े मार्मिक ढँग से भाव व्यक्त कर गए हैं। उस समय के बहुत कम ऐसे कवि हैं, जिन्हें शब्दाडम्बर प्रिय है।

सामञ्जस्य की परिधि बहुत दूर तक है। यथायोग्य शब्दों का प्रयोग करना और यथायोग्य भाषा की शैली रखना, यह सब उसी की सीमा में है। ब्रजभाषा-कवियों ने इसका खूब ध्यान रखा है। स्त्रीजनोचित भाषा में कोई कह रही है—

आगि लगै ब्रज के बसिबे महँ ;
पानी में आगि लगावैं लुगाई।

तुलसीदास जी भी—

सिथिल-सनेह कहै कौसिला सुमित्रा जू सों—
मैं न लखी सौति सखी, भगिनी ज्यों सेई है।

इस पर सुमित्रा जी कहती हैं :—

कीजै कहा जीजी जू, सुमित्रा परि पायँ कहै—
'तुलसी' सहावै विधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम-जन्म ही ते जानियत ;
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है !
जाई राजघर, ब्यहि आई राजघर माँह ;
राज पूत पाये हू न सुख लहियतु है !
देह सुधागेह ताहि मृग ने मलिन कियो ;
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है !

और 'दास' ने एक पतिव्रता के द्वारा कहलाया है—

नैंननि कौं तरसैए कहां लौं ;
कहां लौं हियो विरहागि में तैए ?
एक घरी कल पैए कहूं न ;
कहां लगि प्रानिनि कौं कलपैए !
आवत जी में विचार यही ;
सखी, चलि सौतिहुँ के घर जैए !
मान घटे ते कहा घटिहै जुपै,
प्रानपियारे कों देखन पैए !

भाषा का माधुर्य तो है ही ; साथ ही व्यंजक शक्ति भी देखिए। 'सौतिहु' में 'हु' कितना सुन्दर है। विष का घूंट पीना पसन्द किया जा रहा है ! सौत के घर भी जाना मंजूर ! समस्त पद्य की जान यह 'हु' है। इसी तरह एक मुसलमान कवयित्री की पद-व्यंजना देखिए—

एहो नन्दलाल, कुरबान तेरी सूरत पर,
हौं तौ मुगलानी पै हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं।

इसमें कृष्ण के लावण्यातिशय का भरभूर अभिव्यंजन है और 'तौ' ने तो पद्य को सजीव कर दिया है। कहाँ मुगल वंश और कहाँ काफिर कौम हिन्दू ! पर तेरे लिए मैं हिन्दुआनी भी बन जाऊँगी ! मुगल वंश पर कितना गर्व ! पर वह भी तेरे लिए न्यौछावर !—'हौं तौ मुगलानी'—'पै हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं'। 'तौ' कितने ऊपर चढ़ाता है और 'पै' कितने नीचे पटक देता है !

तुलसी ने कुम्भकर्ण का वर्णन करते हुए—'भूधराकार-सरीरा' कहा है, 'पर्वताकार' नहीं। भूधर में दो महाप्राण वर्ण शब्द को अर्थ (कुम्भकर्ण-देह) की ही तरह भयंकर बना देते हैं, जबकि 'पर्वत' में तीनों वर्ण अल्पप्राण हैं और उन्हें ऊपर रेफ भी नहीं खींच पा रहा है। परन्तु आगे—'आवत कुम्भ-करन रनधीरा' में झुनझुनियाँ-सी बाज रही हैं, जो प्रकृत अर्थ के अनुरूप नहीं। हाँ, 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' में सुन्दर मधुर ध्वनि, प्रकृत के अनुरूप है।

एक बड़ी-बूढ़ी स्त्री अपनी नींद बुलाने के लिए गाने लगे—'आ जा मेरी प्यारी निंदिया' तो कितना भद्दा लगेगा ? बच्चों को सुलाते समय ही वैसा लोरियों में ठीक रहेगा। 'आप्त' शब्द ऋषि-मुनियों के लिए ही आता है ; पर हिन्दी के एक बड़े आचार्य ने बिहारी-मतिराम आदि कवियों के लिए 'आप्त' शब्द का प्रयोग किया है ! कहा है, आप्त कवियों के काव्यों से भी ब्रजभाषा का स्वरूप जाना जा सकता है। 'आप्त' की जगह यहाँ 'रससिद्ध' आदि कोई विशेषण देना चाहिए था।

तुलसीदास-जैसे महाकवियों ने शब्द और अर्थ का साहित्य (या सामञ्जस्य) अपनी कविता में प्रायः छूटने नहीं दिया है और यथाप्रसंग भाषा के स्वरूप तथा शैली में परिवर्तन किया है। इनकी यह काव्यसम्बन्धी बहुत बड़ी विशेषता है। 'इनकी कविता में मिलै भाषा विविध प्रकार' में यही कहा गया है। परन्तु अनजान लोगों ने कुछ और समझ कर यह उक्ति उद्‌घृत की है और दूसरों ने भी वैसी ही व्याख्या कर दी है ! कहा, तुलसी इसलिए श्रेष्ठ कवि हैं कि इनकी कविता में (विविध प्रकार की भाषा नहीं) विविध प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। अर्थात् इनकी कविता में अनेक भाषाओं की खिचड़ी पकी है, जो बहुत बढ़िया है और ऐसी खिचड़ी पकाने के कारण वे बहुत बड़े कवि हैं ! यों भाषा-सम्बन्धी एक दोष को गुण के रूप में रखकर व्याख्या की

गई है ! इस प्रशंसा का फल यह हुआ कि आज काव्य-भाषा के रूप में अत्यधिक सांकर्य हो गया है, विशेषतः नई ब्रजभाषा-कविता में। ब्रजभाषा के माधुर्य में 'फुटबाल' और 'टेलीग्राफ' खड़खड़ाए गए हैं। 'भाषा विविध प्रकार' आने से कवियों के सरदार बनने का प्रयत्न ! शब्द-सांकर्य तो अखबारों में रोज देखते ही हैं—'चार-सूत्री कार्यक्रम'। 'चतुःसूत्री' चाहिए। अन्यथा 'चौसूती' कहो ! इसी तरह 'पाँच-सूत्री' 'तीन-सूत्री' आदि भ्रष्ट प्रयोग चल रहे हैं। समझाओ—बताओं, तो गाली खाओ—"सबकी गलतियाँ निकालने के अलावा और काम क्या है ! सबकी पगड़ी उछालता रहता है। उद्दण्ड और घमण्डी ऐसा है कि क्या कहा जाए !' यह पुरस्कार !

पांचवा अध्याय

भाषा में लाक्षणिक प्रयोग

शब्द-सम्बन्धी कला का विकास होने पर लाक्षणिक प्रयोगों की प्रवृत्ति होती है। परन्तु आगे जब कभी किसी विद्या की कमी हो जाती है, तो लक्ष्य अर्थ तक न पहुँचकर लोग वाच्य अर्थ में ही उलझ जाते हैं। अर्थ नहीं जमता तो उलटी-सीधी कल्पनाएँ करते हैं। यहाँ इस विषय के कुछ उदाहरण लीजिए।

हमारे यहाँ होम और यज्ञ का बड़ा महत्त्व है। धर्म में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। यह 'अग्नि-पूजा है। ज्येष्ठ वेद (ऋग्वेद) में सबसे पहला सूक्त है—'अग्नि-सूक्त'। अग्नि-उपासना पर अत्यधिक जोर है। ऋग्वेद का सबसे पहला जो मंत्र है, उसमें सबसे पहला पद 'अग्नि' है—'अग्निमीडे पुरोहितम् ...'! इससे स्पष्ट है कि हमारे ऋषि अग्नि-पूजा पर कितना बल देते थे उस समय! यह भी लिखा है कि इस अग्नि-पूजा से तुम्हें सुख मिलेगा; तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा; तुम्हारा राज्य समृद्ध तथा विपद्-हीन होगा; इत्यादि। हमें सोचना है कि बात क्या है! क्या इसी अग्नि की पूजा करने से हमें वह सब मिलेगा, जिससे हम भोजन पकाते हैं; या कोई और आग है? निःसन्देह यह आग अभिप्रेत नहीं है। इसकी पूजा से वे फल सम्भावित नहीं हैं, जिनका निर्देश उन मन्त्रों में है। हम समझते हैं, यहाँ 'अग्नि' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। वेद जिन्होंने पढ़े हैं, वे जानते हैं कि वहाँ लक्षणा का कितना अधिक आश्रय लिया गया है; विशेषतः साध्य-वसाना (गौणी) लक्षणा का! हम कुछ विस्तार से इसे समझाना चाहते हैं।

जिस समय वेदों की रचना हुई, आर्य-साम्राज्य का विस्तार हो रहा था और 'देवासुर-संग्राम' जोरों पर था। उस समय एक जलन जरूरी थी, जिसमें शत्रु-दल भस्म हो जाए। हम अपने शत्रुओं से कसकर निपट लें, यह

भावना जरूरी थी। इसके लिए प्रेरणा-धौंकनी चाहिए थी, जो उसको तेज किए रहे। कहीं ऐसा न हो कि देश राजसुख में लिप्त होकर एकदम ठंडा पड़ जाए, निस्तेज हो जाए! इसीलिए सबसे पहले अग्नि-पूजा का उपदेश है—आग की पूजा करो! ऋषि कहते हैं—'अग्निमीडे'—मैं अग्नि की उपासना करता हूँ, अग्नि का प्रशंसक हूँ। वह आग, जिसमें शत्रु जल जाएँ।

इस अग्नि को कभी बुझने न दो, यह आदेश है। अग्नि में अच्छी आहुतियाँ दो। यदि दुराचारी जनों को धर्म-युद्ध में ले जाओगे, तो वह बदनाम हो जाएगा। महत्त्व गिर जाएगा। सैनिक में सदाचार चाहिए। अच्छी आहुति पड़ने से अभीष्ट-सिद्धि जल्दी होगी। जितने अच्छे आदमी आगे बढ़ेंगे आहुति देने को, उतना ही अच्छा! शासन भ्रष्ट न होगा। आजाद हिन्द फौज में वह वैसा जोर क्यों आ गया था? इसीलिए कि नेता जी (श्री सुभाषचन्द्र बोस) स्वयं मोर्चे पर जाते थे, जब जरूरत होती थी। यही अच्छी आहुति का तात्पर्य है, जिसे बाद में लोगों ने घी-साकल्य समझ लिया, जब 'अग्नि' से यह मामूली आग समझी जाने लगी! यह होम नित्य की बात है। सदा तेजस्विता रखो।

'यज्ञ' का महत्व बहुत अधिक है। यज्ञ है क्या? विशेष अवसर पर विशेष समारोह से अग्नि-पूजा! साधारणतः अग्नि पूजा तो नित्य-विधि में है! हम में तेजस्विता न हो, तो हमारे निकट काम ही आगे न बढ़ें। हमारा घर लुट जाए, इज्जत लुट जाए! इसी लिए नित्य-विधि में अग्नि-पूजा है। उस अग्नि (तेजस्विता) का प्रतीक रूप हमने भौतिक अग्नि स्वीकार किया और उन आहुतियों (वीर हुतात्माओं) का प्रतीक लिया घृत आदि सामग्री। कालान्तर में प्रतीक को ही असली चीज मान बैठे! जैसे राष्ट्र का प्रतीक हमारा चक्राङ्कित तिरंगा झंडा है। हम उसका सम्मान करते हैं और उसकी बेइज्जती समझते हैं। अब यदि कोई ऐसा मूर्ख हो, जो कहे कि हमारे लिए तो झंडा ही सब कुछ है और इसके सम्मान के लिए तो राष्ट्र को भी छोड़ सकता हूँ; तो उसे आप क्या कहेंगे? इसी तरह शत्रु-पराभवकारिणी 'अग्नि' की उपासना भूल कर इस भौतिक आग को ही सब कुछ समझने लगे!

हाँ, मैं 'यज्ञ' के विषय में बतलाने जा रहा था। बतलाया गया कि नित्य की अग्नि-पूजा एक साधारण धर्म है। विशेष अवसर पर जब सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा होती थी, तो उसे 'यज्ञ' कहते थे। यज्ञ मंत्र-पूर्वक होता है।

मंत्र-मंत्रणा, खूब अच्छी तरह सोच-विचार ! जब अच्छी तरह 'मंत्रणा' करके सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा की जाती थी, तो उसे 'यज्ञ' कहते थे । यज्ञ में 'पशु-वध' आवश्यक । 'पशु' समझे ? 'पशवः आततायिनः'—आततायी को पशु कहते हैं । आततायी वह, जो हमारे देश को लूटने आए, हमें बर्बाद करने आए, हमें कर्त्तव्य भ्रष्ट करने आए और किसी भी तरह न माने ! उस शत्रु से निपटना हमारा धर्म है । ऐसे ही 'पशुओं का वध' यज्ञ में आवश्यक है । ऐसे यज्ञ से स्वर्ग मिलता है ; मुक्ति मिलती है । हम स्वतन्त्र होकर संसार का सुख प्राप्त करते हैं । 'यज्ञ' का बड़ा महत्त्व है ।

जब हम 'अग्नि' को साधारण अग्नि समझने लगे, तब 'पशु' भी यही चौपाए समझने लगे ! बेचारे मूक और निरपराध उपयोगी पशु काट-काटकर आग में डाले जाने लगे ! प्रतिक्रिया में बुद्ध भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ और फिर अहिंसा का अतिरेक ! उसकी दवा फिर दूसरे आचार्यों ने की । परन्तु 'होम' तथा 'यज्ञ' में 'अग्नि' वही रही ! स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी 'अग्नि' से साधारण आग ही अर्थ समझा है । आप कहेंगे, तो फिर क्या कुँएँ में भाँग पड़ गई ? क्या किसी की भी समझ में बात न आई और एक आप ही नए व्याख्याता पैदा हुए हैं, जिन्हें यह नया अर्थ सूझा ? मेरा निवेदन है कि हाँ, कभी-कभी कुँएँ में भाँग पड़ जाती है । यहाँ उदाहरण के रूप में हम कुछ ऐसी ही बातें उपस्थित करेंगे ।

सूर्य और कमल

भारतीय काव्य-धारा में सूर्य तथा कमल का सम्बन्ध प्रसिद्ध है । संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के काव्य-साहित्य में प्रसिद्ध है कि सूर्य के उदय होने पर कमल खिलता है और सूर्य के अस्त हो जाने पर मुरझा जाता है, या सम्पुटित हो जाता है । कालिदास आदि महा-कवियों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है । प्रभात तथा सन्ध्या के वर्णन में सूर्य और कमल का उस रूप में वर्णन अवश्य आएगा । इसे 'कविसमय' में ले लिया गया है ; कवियों के साधारण वर्णनीय विषयों में यह है । मैंने देखा, यह बात गलत निकली । सूर्य के छिप जाने पर कमल का फूल न तो मुरझाता है, न सम्पुटित होता है । वैसा ही खिला रहता है । पूर्णिमा की उजेली रात में

चार-चार घण्टे मैं रायपुर (म० प्र०) के तालाबों पर बैठा देखता रहता था। वहाँ कमल बहुत हैं। जब यह मैंने देखा, तो लिखा (शायद अपनी 'साहित्य-मीमांसा' में) कि ऐसा वर्णन अब कवियों को बन्दकर देना चाहिए, जो प्रत्यक्षतः प्रकृति-विरुद्ध हो। कोई विदेशी जन हमारे ऐसे वर्णन पढ़कर हमारे प्रकृति-निरीक्षण को क्या कहेगा ? यह मैंने उस समय लिखा था। परन्तु 'अग्नि-पूजा' का अर्थ जब मेरी समझ में आया, तब इस 'सूर्य-कमल' प्रकरण को भी समझने में देर न लगी। यहाँ भी उसी (साध्य-वसाना गौणी) लक्षणा का खेल है, जिसका 'अग्नि-पूजा' में ! सूर्य तथा कमल से यहाँ जो अध्यवसित थे, हमारी आँखों से ओझल हो गए ! वस्तुतः सूर्य तथा कमल पुरुष और स्त्री के लिए लक्षणा करके किसी चतुर कवि के द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए होंगे। फिर लोग लक्ष्यार्थ समझने में असमर्थ हो गए और वाच्यार्थ ही ग्रहण कर बैठे !

यों समझिए। किसी तेजस्वी पुरुष का वियोग-प्रकरण है। तेजस्विता के के लिए प्रसिद्ध उपमान सूर्य है और कोमलता तथा सुन्दरता के लिए स्त्री-मुख का उपमान कमल। पति-वियोग में स्त्री-मुख कुम्हला गया, श्री-हत हो गया ; ऐसा वर्णन है। इसके लिए किसी चतुर कवि ने कहीं किसी समय लक्षणा द्वारा यों वर्णन किया होगा—'सूर्य के हटते कमल मुरझा गया !' कवि की और उसके काव्य की प्रशंसा हुई होगी। सब लोग उस काव्य को पढ़ने लगे होंगे, पर बाद में लक्ष्यार्थ ध्यान से ओझल हो गया ! सब लोग तो लक्ष्यार्थ समझ नहीं पाते ! तब वाच्यार्थ ही तात्त्विक समझा जाने लगा कि सूर्य जब छिपता है, तब रोज सन्ध्या के बाद कमल के फूल सम्पुटित हो जाते हैं, मुरझा जाते हैं, श्रीहीन हो जाते हैं ! जब किसी ने देखा कि ऐसा तो नहीं होता ! सन्ध्या के बाद भी कमल खिले रहते हैं ; तब यह कहकर इसी वाच्यार्थ का समर्थन किया कि यह 'कवि-समय' है ! कवि लोग ऐसा वर्णन करते चले आए हैं। इस तरह उस सुन्दर लक्ष्यार्थ को भूलकर वाच्यार्थ ग्रहण किया और फिर उसे रूढ़ि ('कवि-समय') के द्वारा समर्थित किया !

इसी तरह प्रिय-मिलन का वर्णन करते हुए कहा गया होगा "सूर्य के दर्शन होते ही कमल खिल उठा।" बाद में वाच्यार्थ मात्र ग्रहण कर लिया गया और प्रत्येक कवि प्रातःकाल का वर्णन करते समय कमलों के खिलने का वर्णन करने लगा !

यही नहीं, कमल में भौंरे का बन्द हो जाना भी कविता में आ गया और सच माना जाने लगा कि सन्ध्या समय जब कमल का फूल सम्पुटित होता है, तो उस पर बैठा हुआ भौंरा उसी में बन्द हो जाता है। सवेरे जब कमल फिर खिलता है, तब भौंरा जीता-जागता निकल आता है! हवा कैसे पहुँचती है? कमल को काटकर वह निकल क्यों नहीं आता! उत्तर तैयार किए गए! कहा जाने लगा कि भौंरा लकड़ी को तो काट देता है; पर कमल के फूल को कैसे काटे? उससे तो प्यार करता है न! इसी लिए उसे काटकर नहीं निकलता। बेचारा उसी में बन्द पड़ा रहता है। सबेरे निकलता है। यह बात भी सच मान ली गई। लक्ष्यार्थ भूल जाने का यह परिणाम है।

कभी किसी कवि ने किसी बच्चे या स्त्री के जागने का वर्णन किया होगा। प्रातःकाल आँखें खुलीं, यह वर्णन होगा। आँखों का उपमान कमल प्रसिद्ध है और काली पुतली का उपमान भौंरा है। सुन्दर रतनारे नेत्रों में काली पुतली इस तरह इधर-उधर घूमती है, जैसे खिले हुए कमल-पुष्प पर भौंरे रस ले रहे हों। सवेरे कोई जागा, इसका वर्णन कवि ने किया—'सूर्य का उदय होते ही कमलों की पंखड़ियाँ फिर खिल उठीं, जो सन्ध्या के समय सम्पुटित हो गई थीं। उनमें जो भौंरे बन्द पड़े थे, उन्मुक्त हुए और फिर घूम-घूम कर रस लेने लगे।' 'सूर्य' का यहाँ लक्ष्यार्थ नहीं, वाच्यार्थ गृहीत है। सूर्योदय हुआ और वह सुन्दर बच्चा जागा। कमल उसकी आँखें और भौंरा उसकी पुतली। इस लक्ष्यार्थ को भी भूलकर वाच्यार्थ में पड़ गए और फिर इसे भी कहीं उठा ले गए। तब सबको मिलाकर कहा जाने लगा—"सन्ध्या-समय, सूर्य छिपने पर कमल के फूल सम्पुटित हो जाते हैं और भौंरा उसी में बन्द हो जाता है। जब सवेरे सूर्य निकलता है तब कमल फिर खिलता है और बन्द भौंरा कैद से छुटकारा पा जाता है।" इसी अर्थ को लेकर बड़े-बड़े कवियों ने कविताएँ की हैं। तो, क्या कुँएँ में भाँग पड़ गई? आप ही बतलाइए!

यहीं नहीं, दूसरे देशों में भी लक्ष्यार्थ भूल जाने से गड़बड़-घोटाला हुआ है; फारसी के किसी कवि ने किसी स्वर्ग की अप्सराओं का रूप-वर्णन करते समय कहा होगा—'वे सौन्दर्य की प्रतिमाएँ हैं और जमीन पर तो उनके पैर नहीं पड़ते! वे तो आकाश में उड़ती हैं।' असम्बन्ध में सम्बन्ध,

लक्षणा का स्थल। हम लोग जब किसी के धन आदि के अतिरेक का वर्णन करते हैं, तब कहते हैं—'उसके इतना धन है और उसका इतना गर्व है कि पैर जमीन पर नहीं पड़ते ! सचमुच वह आजकल आकाश में उड़ता है।' मतलब यह कि लोकातिक्रान्त धन और तज्जन्य गर्व है। इस लक्षणा को बाद में लोग भूल गए ! पर इस कवि की कविता तो प्रसिद्धि पा चुकी थी ; सब पढ़ते रहे। 'वे उड़ती हैं ! उनके पैर जमीन पर नहीं लगते।' ठीक, तो उनके पर लगे होंगे ! लो भाई, देव-वधूटियों के पर लग गए और उनका नाम भी 'परी' पड़ गया ! यह न समझा कि किसी स्त्री के पंख लगा दिए जाएँ, तो उसकी शोभा क्या बढ़ जाएगी ! 'परी' तो वे हुईं, यदि 'सींगवाली' भी हो जातीं, तो शोभा और बढ़ जाती ! मजा यह कि उन 'परी' (परवाली) स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य का बखान भी है ! बाद में ऐसी भी कहानियाँ बनीं कि अमुक परी अमुम को लेकर उड़ गई। जैसे कोई भेड़िया किसी को उठा ले जाए ! यह सब लक्ष्यार्थ भूल जाने का परिणाम है। कविता में तो खैर कुछ नहीं, पर वेदार्थ में लक्षणा-विस्मरण से यज्ञ आदि का क्या अर्थ किया गया और पशु-हत्य: कैसे हुई, सो देखिए !

जब अग्नि-पूजा से इसी भौतिक अग्नि की पूजा ग्रहण की गई, तो बाद में (आर्य-समाज ने) उसकी पुष्टि में 'वायु-शुद्धि' का हेतु दिया ! बच्चे को तोला भर घी न मिले, सवेरे हवन-कुण्ड में जरूर पड़े ! क्यों ? इसलिए कि हवन करना धर्म है, वायु शुद्ध होगी ! अशुद्ध वायु इस सुगन्ध से शुद्ध चाहे न हो, उसकी अशुद्धता (बदबू) दब जरूर जाएगी। परन्तु वह काम तो साधारण अगरबत्ती आदि से भी हो सकता है न ? वायु अशुद्ध ही क्यों करो ! सफाई रखो ! इंगलैंड, अमरीका, जापान आदि में हवन नहीं होता, तो क्या वहाँ वायु बहुत गन्दी रहती है ? क्या वहाँ स्वास्थ्य यहां से भी खराब रहता है ?

बात क्या है ? कहीं स्वास्थ्य-प्रकरण में लिखा होगा कि "घी से वायु शुद्ध होती है। यदि अग्नि में नित्य तोला-दो तोला घी पड़ जाए, तो वायु शुद्ध रहेगी और स्वास्थ्य ठीक रहेगा।" सब जानते हैं कि शुष्क भोजन से शरीर की वायु विकृत (अशुद्ध) होती है और तरह-तरह के रोग पैदा करती है। यदि इस आग (जठराग्नि) में नित्य प्रातः-सायं तोला-तोला भी घी होम दिया जाया करे, तो वायु शुद्ध रहे, गड़बड़ न हो और फिर रोग पैदा न हों।